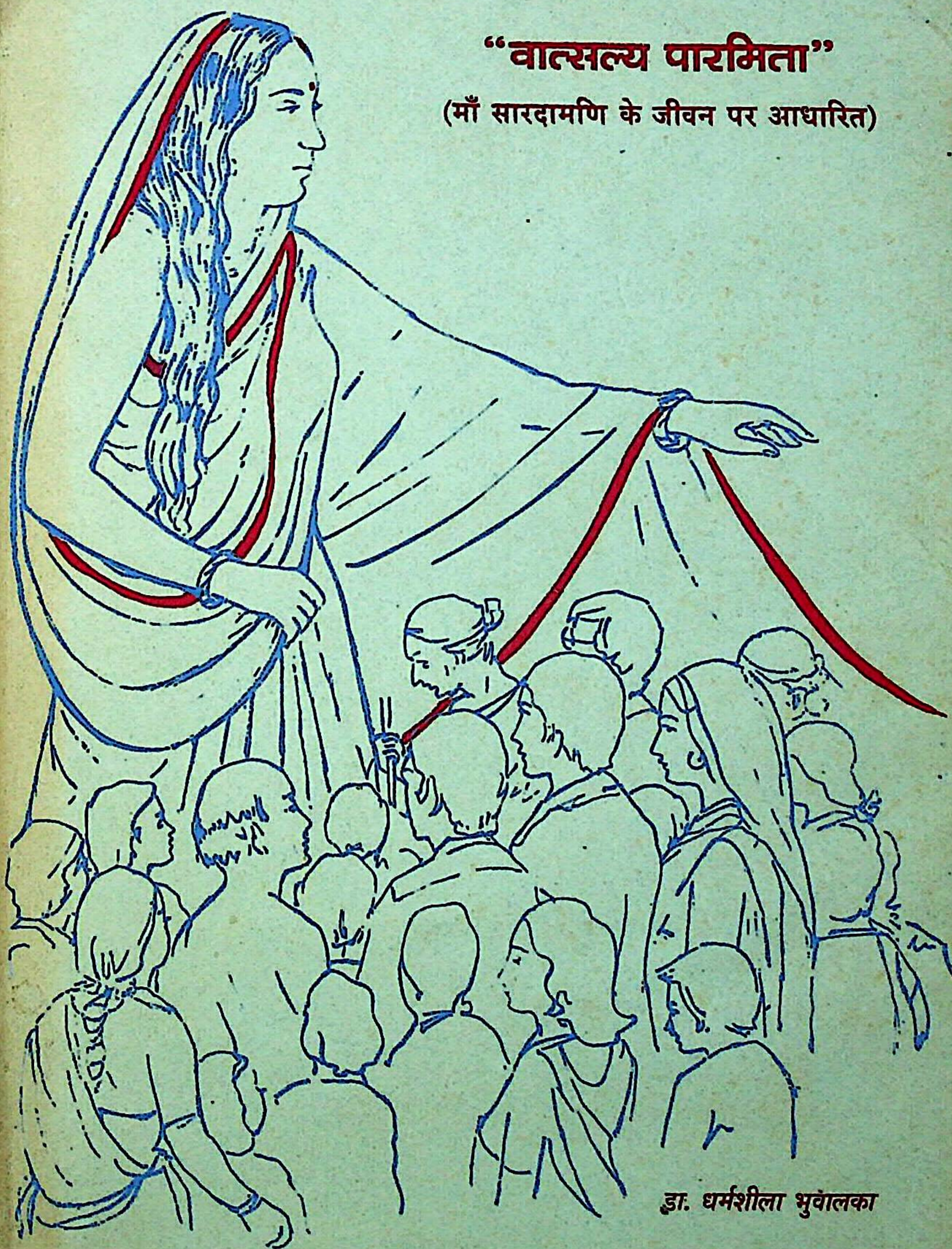
"वात्सल्य पारमिता"

(माँ सारदामणि के जीवन पर आधारित)



डा. धर्मशीला भुवालका

अभिमन्यु प्र॰ भुवालका

आफिस : २५२१५६
२५२१७४

निवास : ४७५७५९९
७४९१६०

टोश हाउस
पी॰ ३२/३३, इंडिया एक्सचेंज प्लेस,
कलकत्ता-७०० ००१

जून १०, १९९६

आदरणीय

ट्रस्ट का द्वितीय प्रकाशन " वात्सल्य पारमिता " की एक प्रति (रचयिता - डा॰ श्रीमती धर्मशीला भुवालका) संलग्न है।

विश्वास है, रचना आपको, पसन्द आएगी।

शेष भगवत कृपा,

भवदीय,
अभिमन्यु
(अभिमन्यु भुवालका)

संलग्न : १ प्रति

"वात्सल्य पारमिता"

(माँ सारदामणि के जीवन पर आधारित)

डा. धर्मशीला भुवालका

भूमिका

राम कृष्ण मठ
१, उद्‌बोधन लेन, बाग बाजार
कलकत्ता - ७०० ००३

श्री श्री सारदा माँ की जीवन-गाथा पर आधारित प्रस्तुतं काव्य ग्रंथ हिन्दी साहित्य जगत् के लिए एक अनुपम मार्गदर्शक है । हिन्दी भाषा में रचित श्री श्री माँ पर लगता है कि ग्रन्थ रचना का यही सर्व प्रथम प्रयास है । वैसे तो शायद श्री रामकृष्ण या विवेकानन्द पर भी आज तक इस भाषा में स्वतंत्र किसी भी रचना के प्रयास की हमें जानकारी नहीं है । बंगला या अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद ही मात्र पढ़ने को मिलते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की अनुपमता का एक प्रमाण और इस ग्रन्थ के पाठ से प्राप्त श्री श्री माँ का सान्निध्य है । वैसे माँ स्वयं ही इस बारे में प्रतिज्ञा कर चुकी है - सर्वंममैतन्माहात्म्यं ममसंनिधिकारकम् (श्री श्री दुर्गा सप्तशती १२/२०) । यही लेखिका की सबसे प्राप्ति है । ग्रन्थ की तीसरी अनुपमता का प्रमाण भारतीय लेखकों की आत्मावलोप की अति-प्राचीन परम्परा का लेखिका का सार्थक अनुवर्तन है । ग्रन्थ की प्रसन्न-गम्भीर शैली से ग्रन्थ के पन्नों को उलटते ही पाठक परिचित हो जायेंगे । वैसे शायद इसमें लेखिका का हाथ कुछ नहीं, ग्रन्थ के विषय ने ही उन्हें मजबूर किया होगा।

हमें आशा है कि श्री श्री माँ के अनुध्यान-निरता उनकी वर-पुत्री ग्रन्थ लेखिका अपनी आराध्या देवी के अपने अनुध्यानलब्ध पुण्य चित्रों को इसी प्रकार जन समक्ष में लाकर माँ शारदामणि के पावन नाम से, उनके अलोक सामान्य चरित्र से जनता को परिचित कराती रहेगी । श्री श्री माँ से हमारी प्रार्थना यही है कि वे लेखिका को लम्बी आयु देकर अपना काम उनसे करा लें ।

निवेदक

स्वामी सत्यव्रतानन्द

अपनी बात

बात कई वर्षों पूर्व की है - एक दिन अपने गुरुदेव 'रामकृष्ण मठ और मिशन' के अध्यक्ष तथा भगवान श्री रामकृष्ण की लीला सहचरी माँ सारदामणि के शिष्य श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानंदजी महाराज के दर्शनार्थ बेलूर मठ जाना हुआ । बातचीत के बीच अचानक उन्होंने कहा 'मायेर पूँथी लिखो ।' (माँ की पोथी लिखो ।) मैंने कहा- 'महाराज आमी पारबो ?' (महाराज क्या मैं कर सकूँगी ?) उन्होंने कहा - 'निश्चय पारबे ।' (अवश्य सकोगी)

बात यहीं समाप्त हो गई । मैंने भी बहुत दिनों तक इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया । एक दिन वृंदावन में परम श्रद्धेय स्वामी श्री अखंडानंद सरस्वतीजी महाराज से अचानक ही मैंने इस बात का उल्लेख किया । उन्होंने मुझे प्रोत्साहित ही नहीं किया, वरन पुस्तक का नामकरण ही कर दिया - 'वात्सल्य पारमिता' ।

लिखने के नाम पर चिट्ठी लिखने से अधिक मुझे कभी कुछ आता ही नहीं था । कविता के तो 'क' से भी मेरा परिचय नहीं था, पर सुना था कि महापुरुषों की कृपा असंभव को भी संभव कर देती है । मैंने सुनी हुई इस बात पर भरोसा डाल कर इन दोनों ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषों की कृपा का सहारा ले, डरते डरते पुस्तक का प्रारंभ किया । दो कविताएँ लिख कर गुरुदेव एवं महाराज जी को सुनायी । दोनों ने ही पसन्द किया । कृपा पर अधिक भरोसा हुआ और पुस्तक यथाशक्ति, यथासमय लिखती गई । पर पुस्तक की समाप्ति के पूर्व ही दोनों महापुरुषों ने ऐहिक लीला संवरण कर ली । उनकी कृपा को अंतःकरण में संजोये मैंने यह पुस्तक पूरी की ।

माँ के जीवन क़ी अनेक घटनाओं में से उन्हीं घटनाओं को मैंने लिया, जिसमें उनके वात्सल्य का प्रकाश अधिक है । घटनाएँ क्रम से भी नहीं ली गई है । इतना ही नहीं, मेरा मन ऐतिहासिक घटनाओं को ज्यों का त्यों लेकर एक लेखा-जोखा तैयार करने को राजी नहीं था । अतः उन घटनाओं को मेरे शिशु मन ने किस दृष्टि से देखा, यह भाव-संबंध उन घटनाओं के साथ पिरोने का प्रयास इसमें मैंने किया है । इतिहास प्रेमी मित्रों को इसमें आपत्ति हो सकती है । जो हो, यदि यह त्रुटि है तो इसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ ।

जिन महापुरुषों ने हाथ पकड़ कर पुस्तक के प्रत्येक शब्द से मेरा भावात्मक परिचय कराया, उन्हीं के पावन चरणों में यह लघु - प्रयास समर्पित हैं ।

धर्मशीला भुवालका

संस्करण : १९९६

प्रकाशक :

भुवालका जनकल्याण ट्रस्ट
पी ३२/३३, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता - ७०० ००१

मुद्रक :

मैटर प्रिन्ट
पी-१०, डालिम तल्ला लेन
कलकत्ता - ७०० ००६
दूरभाष : ५५५ ७३६३

अवतरण देव का - स्वर्ग दूत का

मानवीय सीमा में,

आकार पंचभौतिक !

उसका हृदय था -

असीम अनंत भक्ति - उद्वेलित

निरीह शिशुता की सहज, सरल अभिव्यक्ति;

और ज्ञान धारा -

शास्त्रों की कारा से मुक्त

स्वानूभूत सत्य की कहानी

चल रही थी

स्वयं को लुटाती ।

आया था वह धरती पर

ऐसा ही विलक्षण -

समष्टि चेतना का उन्नायक ।

एक दिव्य शिल्पी

गदाधर नामधारी एक ग्रामीण

'रामकृष्ण परमहंस देव' ।

सबका अपना ठाकुर

दक्षिणेश्वर का पगला ब्राह्मण ।

स्वरूप उसका था
भक्ति - मति परम चैतंन्य -
दैवी उन्माद का आवेश ।
प्रज्ञा की समाधि
जो, थिरकती थी
रानी रासमणि के काली मंदिर में
भवतारिणी माँ के चतुर्दिक् ।
मानो -
'संभवामि युगे-युगे' की प्रतिज्ञा -
साकार थी
गीतमय, संगीतमय ।
साथ आई परमा प्रकृति
लीला सहचरी परम पुरुष की ।
मुक्तकेशी के श्वेत आँचल में
अवगुंठित था,
आद्याशक्ति का गंभीर रहस्य ।
'नौबत' की कारा में
बंदिनी वह गृहणी
परिचय केवल इतना ही
कि
परिणीता है वह परमहंस की ।

केवल दो-एक पुकार

मॉं - मॉं की -

लगी थी उसके आँचल में ।

भवतारिणी के आँगन में,

दक्षिणेश्वर के परिवेश में,

इससे अधिक

और कुछ पहचान

उसकी नहीं थी ।

पर,

सामान्या उस नारी का

श्वेतांचल -

शनैः शनैः समेटने लगा

संपूर्ण मातृत्व को

अपनी गोद में ।

मॉं - मॉं की गूँज - अनुगूँज

स्पर्श करने लगी प्रत्येक हृदय को ।

पूछा एक दिन ठाकुर से

उस वत्सली ने -

"भला कहो तो-

कौन हूँ मैं तुम्हारी

कौन सा संबंध है

बांधे हमें ?"

अनायास ही आया उत्तर

सहज - सरल - निसर्गतः -

कहा ठाकुर ने हँसकर

शिशुता से भरकर

"क्यों तुम मेरी माँ हो-आनंदमयी माँ !"

और हाँ-

एक दिन ठाकुर

भावमग्न लेटे थे,

खाना रखकर जब जाने लगी थी

वही आनंदमयी -

बंद आँख - कहा था उन्होंने

"दरबाजा बंद कर दे"

सस्मित सुकोमल स्वर गूँजा -

"हाँ वही करती हूँ"

अवाक् ठाकुर ने

पहचाना मातृत्व की झंकृति को

फिर सो न सके

संपूर्ण रात -

कहने लगे - प्रातः ही जाकर

"क्षमा करना-

तुम्हारे लिए प्रयोग किया था मैंने

'तू' संबोधन का ।"

ठाकुर ने लीला संवरण की

पर स्थान रिक्त नहीं हुआ

लबालब भर गया

माँ के वात्सल्य से ।

एक पल आया विचार

भला उनके बिना जीना क्यों ?

कहा उस महाप्राण ने तत्क्षण ही

"तुम्हें रहना है

अपरिमित काम करना है -

मनुष्य सभी - चतुर्दिक्

गहन अंधकार में

जी रहे हैं - कीड़ों की तरह

उन्हें सहलाना है प्यार से

सुनाना है अमर संदेश

मानव की गरिमा का

जीवन की धन्यता का ।

किया मैंने अल्प

करना है तुम्हें संपूर्ण,

दायित्व मुझसे

तुम्हारा है कहीं अधिक ।"

तद्रूप हो गई वह -

माँ की ममता विगलित

बिखर गई सृष्टि पर -

किया निछावर स्वयं को उसने

निरीह मानव शिशु पर ।

अनंत रूपिणी, अनंतगुणमयी

अनंत नाम्नी जगदम्बा

जननी थी वह प्राणिमात्र की;

देख काल - व्यक्ति की सीमा से

अपरिच्छिन्न,

लय - लक्ष परिवर्तन से

अनाबद्ध -

वह माँ थी - केवल माँ

आकाश की तरह

मुक्त निर्मल,

गंगा की तरह

पवित्र पावन,

भाव थी केवल वह

हाँ ! भाव ही तो बस थी वह

महामातृत्व की

वात्सल्य पारमिता की ।

अध्याय - २

किसका आविर्भाव यह
धरणीतल पर ?
अग्रहण मास की शीत निशा में
आनंद पुलकित प्रथम संवेग यह किसका ?
रुदन तो शिशु का है अवश्य,
पर कानों को लगता है -
अंतर्भेदी मातृ संगीत ।
एक अद्‌भुत आकर्षण से भर उठा
मन प्राण -
श्यामा सुंदरी ने देखा
नवजात बालिका की ओर
अपलक स्थिर ।
मानस पर उभर गए
अनेक चित्र
भास्वर - प्रखर,
सिंहवाहिनी का यह प्रसाद -
उसी आदिशक्ति जगन्माता का-
जिसके चरणों पर बारंबार
की थी उसने प्रार्थना
संतान के लिए ।
इतना ही नहीं
वह दृश्य भी उभरा
जबकि;
देवदर्शन कर
प्रसन्नवदना, मुक्त हृदया, शुद्ध चेतना

श्यामा सुंदरी लौट रही थी

शिहड़ ग्राम से ।

पथ में ही - वहीं कहीं

जयरामबाटी की पश्चिमी सीमा पर

एक देवालय के समीप,

बेलवृक्ष ने नीचे,

शौच के समय

अपरोक्षतः अनुभूत संदर्शन-

एक छोटी बालिका का आकस्मिक आगमन -

लहराते केश और लाल वस्त्रों की शोभा

बिखर रही थी सर्वत्र ।

पीछे से आकर

सुकोमल बाहों ने आलिंगन किया -

मंद स्मिति की आभा

संगीत स्वरों से घुली मिली

मुखरित-

कहा था उसने -

"माँ ! मैं तुम्हारे घर आई हूँ ।"

प्रवेश हुआ था

उस मातृशक्ति का उदर में

संज्ञाशून्य श्यामासुंदरी के ।

रामचंद्र के पितृ हृदय में भी

कुछ ऐसी ही दिव्य झाँकियाँ

विकीर्ण हुई थी ।

नित्य लीलायित चित्शक्ति ने

खोले थे कपाट;

अनावृत्त हुई थीं कुछ छवियाँ,

समा गई थी वे

दृष्टि पथ से

पिता के मानस में

अनायास ही ।

देखा था उन्होंने -

चतुर्भुजा सिंहवाहिनी जगद्धात्री की -

सुकोमल दीप्ति -

कभी राजराजेश्वरी षोडशी के रूप में-

तो कभी शांत द्विभुजा मानवी के -

परिधान में ।

हतप्रभ - सोचने लगे थे वे -

मेरे तो इष्ट हैं

नवदूर्वादल श्यामघन रघुपति राम,

फिर-

यह दिव्य दर्शन

मातृरूप का क्यों कर ?

मृदु ममतासिक्त स्वर एक

गूँजा था प्राणों में-

"हेमंत की विदा बेला में

तुम्हारे घर आऊँगी ।"

असामान्या उस बालिका में

यही सब कुछ तो समाया था ।

शुचिता - सौम्यता

सरलता - सहजता

न जाने कितनी दैवी संपदा-

पर, सर्वोपर था

शांत गरिमा का धीर - गंभीर भाव ।

दो वर्ष की बालिका

माता - पिता की दुलारी 'सारु'

एक दिन शिहड़ ग्राम की

हरियाली के मध्य,

भजन - कीर्तन की भावधारा में

आकंठ डूबी सारदा से

पूछा था किसी ने -

"शादी करोगी तुम ?"

निःसंकोच उत्तर आया था "हाँ"

बताओ तो भला

"कहाँ है तुम्हारा वर ?"

उत्तर में

स्निग्ध - निर्दोष - कोमल संकेत था,

सामने बैठे

बीस वर्षीय युवक गधादर की ओर ।

विलक्षण था यह वरण -

देखा होगा उस वालिका ने

स्नेह सिक्त - प्रेम पुलकित दृष्टि से -

सबकी ओर ।

एक के बाद एक

सभी उपस्थित व्यक्ति को

आँका होगा उन नेत्रों ने ।

पाया होगा उनमें,

उन चेहरों पर -

"मैं" के साथ जुड़े विशेषणों की परंपरा -

सभी मानो समर्थ थे -

स्वयं में, स्वयं के लिए ।

केवल एक व्यक्ति ही था -

निरीह अकिंचन - शिशुवत् ।

"मैं" की छाया भी नहीं थी

उसके आसपास कहीं पर ।

नन्हें हृदय के असीम - अनंत सागर में

उद्धेलित हो उठा

विपुल वात्सल्य-भाव

स्वयं-सिद्धा मातृत्व का ।

और;

परिणय के पश्चात्

वही माँ

निज-पति द्वारा पूजित हुई थी

षोडशोपचार के साथ ।

ठाकुर ने चढ़ाया था स्वयं को

लाल जवा के साथ

उन्हीं चरणों पर ।

उस दिन,

दक्षिणेश्वर के मंदिर में

एक और विग्रह का निर्माण हुआ -

भवतारिणी की जीवंत स्पंदित -

प्राणवंत - चिन्मयी प्रतिमा के रूप में,

उसकी समग्र सत्ता का रुपांतरण होने लगा

मातृभाव के परिपूर्ण प्रकाश में ।

जगत के नर - नारी सभी

यहाँ तक कि ठाकुर स्वयं भी

समाने लगे

उस मातृवृत्त के महाभाव में ।

मधुर भाव के शांत रस में

तरंगित होने लगा वात्सल्य ।

जिससे ठाकुर संबंधित

सभी मनोभाव

अनुरंजित हो उठे ।

एक दिन पूछा था

एक भक्त ने

"माँ ! ठाकुर को किस भाव से

देखा करती थी तुम ?"

स्पष्ट निर्भ्रातं उत्तर था

"पुत्रवत्" ।

अध्याय - ३

माँ एक,

मेरी - तेरी, इसकी - उसकी

सबकी-

सर्व मंगला, सर्वार्थ-साधिका-कल्याणी ।

देखा था-नरेन ने,

दुर्गाष्टमी के दिन

बेलूरमठ के प्रांगण में

एक विग्रह सजीव ।

सिंहवाहिनी, महिषविमर्दिनी ने पहना था,

उस दिन, एक परिधान अपूर्व,

रुपायित हुई थी वह

सारदामणि के आकार में ।

रोमांच - पुलक - अश्रु के

सात्त्विक अनुभावों ने

भक्ति रस का परिपाक किया

नरेन के हृदयाकाश में ।

विस्मय विमुग्ध, अवाक्, विवेकानंद,

विश्वविजेता वह -

समेट न सका इस जीवंत दुर्गा के आलोक को

उठकर निःशब्द मौन

चला गया ऊपर निभृत-एकांत में -

केवल स्वर एक मुखर था कहीं गहरे हृदेश में

"त्रुटि न रह जाय कोई

माँ की पूजा - अर्चा में ।"

पूजा समाप्त होने पर

माँ स्वयं ही गई

अपने संन्यासी पुत्र को लिवा लाने ।

सहास्य कहा उन्होंने

"चलो बहुत हुआ -

प्रसाद लो जगदम्बा का ।"

उच्छ्वसित विवेकानंद की वाणी,

श्रद्धा परिप्लुत - भावविगलित

आज भी सहृदयों को

सुन रही है ज्यों की त्यों ।

"माँ अवतीर्ण हुई हैं

महाशक्ति का एक स्रोत उद्बुद्ध करने,

पुनरुत्थान होगा अब भारत देश में

गार्गी मैत्रेयी की उदार परम्परा का ।"

दक्षिणेश्वर में, जीवंत दुर्गा को पुकारा था

ठाकुर ने एक दिन

ब्रह्ममयी ! ओ ब्रह्ममयी !!

जन्मसिद्ध ब्रह्मता माँ की

रहती लीन सदा ही

सहज समाधि में ।

उद्दाम-भावावेग नहीं था वहाँ

श्रवण - मनन - निदिध्यासन की प्रक्रिया भी नहीं थी -

पर, ऊर्ध्वगामी मन एक

उड़ा करता था

विस्तारित पंखो से

असीम - विराट् के साम्राज्य में,

अनायास ही;

और इस उड़ान में

अन्न-प्राण-मन और विज्ञान-कोशों की सीमा,

स्वयं को अतिक्रांत करती अनजाने ही-

नित्य-निवास, मुक्तिदायिनी का होता था

आनंदलोक में,

और

विचरती थी नारायणी वह

परमेश्वर के राज्य में ।

बेटी वह धरती की -

सेवा परायण, धर्म - प्राण

पैर जमे हुए दृढ़ता से पृथ्वी तल पर -

चेतना उसकी थाम लेती थी

आकाश की मुक्तता को ।

जलमग्न खेतों में

गर्दन तक डूबी सारदा,

गायों का चारा काटते समय भी

आपूरित रहती -

मातृसत्ता की विराटता से ।

ऐसा लगता कि यह आयाम ही

उसका निजी है,

और बाकी सब

केवल एक स्वीकृति मात्र

विश्व - प्रपंच की ।

माँ विश्वजननी की

उपस्थिति मात्र से ही,

विराट् सत्य दृष्टि का

अनुभव होता

प्रत्येक प्राण को प्रखरता से ।

मृदुशांतिमय प्रेम

और

लीलामय सात्त्विक प्रभा की अंजलि ले

निःशब्द पद विन्यासों में
अनंत गति-भर
आई वह वसुधा पर ।

मन - वाणी से परे उसकी गाथा
उज्ज्वल - कोमल - पवित्र दीप्ति यह
कुम्हला जाती है शब्द - स्पर्श से ।

निवेदिता का अनुभव यही
लिखा था उसने
“माँ ! प्यारी माँ !!
तुम्हारी विलक्षण शांति का स्तवन
मानो शब्द कोलाहल एक
अर्थहीन, आडंबर मात्र ।

सर्वजन - स्वजन तुम,
अमूल्य - अलौकिक शांति तुम्हारी
करती है प्रवेश अंतरतम में ।

नीरव चरण दो,
अनन्त स्पर्शी बन
संचरित होते हैं अणु अणु में ।

प्रभात का प्रकाश, अरुण स्फूर्तिमय,
गंगा की तरल शीतलता,
और
पुष्पोद्यान की सुंगध का सत्य

न जाने, कब कहाँ कैसे,

समाता है जीवन में

अनाहत मौन

तुम्हारे आकार में ।"

तपः पूत इस जीवन की -

प्रथम कांति किरण का स्पर्श मिला

क्षुधा पीड़ित जन मानस को

जयरामबाटी में

भयंकर अकाल के काल में ।

ग्यारह वर्षीय अबोध सारदा,

पिता के साथ जुट गई पूरी तत्परता से

खिचड़ी बनाने में ।

व्याकुल व्यक्तियों को

अविलम्ब भोजन देने की आतुरता में

सुधि भूली, उस सेवा परायणा

अन्नपूर्णा का अक्षय भंडार

चलता रहा अहर्निश

जिसमें पदे - पदे समाने लगा

मानव प्रेम का अखंड साम्राज्य ।

और फिर

दक्षिणेश्वर की कालीबाड़ी में

देखा सबने खुली आँखो से

प्रेम का अपूर्व विकास -

परमहंस के त्याग समुज्ज्वल

महिमामय जीवन,

अपूर्व भावावेश,

और

ईश्वरीय प्रसंगो के दिव्य विधान ने

इस माँ का निर्माण किया-

और फिर;

पायी सबने माँ एक,

प्रतीक्षातुर तत्पर -

क्षितिज व्यापी बाँहें उसकी

फैली रहती-सबको समेटने,

त्रिताप से मुक्त कर

शाश्वत शांति देने ।

मातृ हृदय में जीवनसंगीत की टेक एक

गूँजती रहती नित्य-निरंतर -

"मैं माँ हूँ -

जैसी सत् की; वैसी ही असत् की ।"

एक हृदय थी वह -

जयरामबाटी की निर्धनता में

पढ़ा था उसने

पर दुःख कातरता का गहन पाठ -

वेदना की कालिमा पोंछने का अखंड व्रत था उसका ।

उस दिन जब आई किशोरी एक

अपने ही दोष भार से विजड़ित

सिकुड़ी - सिमटी -

माँ के समक्ष जाना असंभव था ।

वहीं,

'उद्बोधन के मातृमंदिर में'

बाहर ही द्वार पर

सटी दीवाल से -

खड़ी-खड़ी बिसूरती रही वह ।

सुना माँ ने

सिसकी एक शोकमग्न कंठ की,

व्याकुल हो उठे प्राण उसके,

अस्त - व्यस्त, असीम करुणाप्लुत निकली त्वरा से

लपक कर लगा लिया वक्ष से

उस दुःख दग्धा, भग्न हृदया को ।

गूँजा एक स्वर -

अभय - आश्वासन से भरा -

"माँ के सामने - उसी की संतान

भला दोषी क्यों कर है ? बोलो तो ?

बस केवल यही जानना

कि तुम्हारी एक माँ है ।"

विश्व मातृत्व की अंकुरित चेतना वह

उसी की ही अंतरात्मा का समस्त वैभव

घनीभूत था -

रामकृष्ण परमहंस रूपी

एक देव विग्रह में ।

अध्याय - ४

सारदा,

दक्षिणेश्वर के परमहंस की माँ ।

सेवा-निरता सहधर्मिणी ने,

पूछा था एक दिन ठाकुर से -

"तुम मुझे किस भाव से देखते हो ?"

निर्ग्रंथ निर्मल शिशु रामकृष्ण ने कहा -

"जो माँ मन्दिर में

भवतारिणी है,

जिनका मैं यंत्र हूँ -

वही माँ इस समय

मेरी पादसेवा कर रही है ।"

इस माँ की हार्दिकता से

दक्षिणेश्वर की तपःपूत माटी का कण कण

आलोकित हो उठा ।

बेलूरमठ के सन्यासियों की,

तपस्वी-साधकों की,

महानगरी के असंख्य दीन दुखियों की माँ

वही सारदामणि -

निश्छल निर्विकल्प वात्सल्य ने

मंडन किया उसकी चर्या का ।

माँ के दक्षिणेश्वर निवास काल में,

एक भाव भीने क्षण में,

पूछा था भवतारिणी के

पागल पुजारी ने-

कंठ याचना-विगलित;

संसार बंधन से भीत शिशु

गदाधर ने कहा-

"क्या तुम मुझे मेरी माँ से
अलग कर
संसार पथ पर ले जाने आई हो ?
तुम्हारे शक्ति स्रोत में तो
ऐरावत भी डूब जाएगा,
मैं अकिंचन-अबोध
भला कैसे झेल सकूँगा
उस मोह - वन्या को ?"
स्यंदनारुढ विजयिनी का
दिव्य घोष था -
धीर-गंभीर-तेजस्वी पर स्नेह सुकोमल,
"तुम्हें इष्ट पथ पर अग्रसर
कराने आई हूँ ।"
विद्युन्मालिनी वह्नि,
परमहंस के साधना मंदिर की
स्नेह शांत दीप शिखा -
यही तो है
दक्षिणेश्वर की सारदा ।
एक बार
भानजे हृदय की अनुपस्थिति में
एकाकी निरुपाय असहाय,
ठाकुर ने कहला भेजा
'जल्दी ही आ जाओ ।'
बस
चल पड़ी सारदा अविलंब
तीर्थयात्रा को
इष्ट साधना को ।
बंधुर दस्यु दलित पथ-
सभी को,

निरापद स्थान में शीघ्र पहुँचने
की आकंठ - उत्कंठा थी ।
थकी सारदा मानों सबके लिए
भार बनी थी,
और,
सभी यात्री उसे छोड़
चल पड़े गंतव्य की ओर ।
पर उस शांत विग्रह में
उपालंभ की एक भी रेखा नहीं उभरी,
भय - दुश्चिंता की छाया भी नहीं पड़ी ।
चल पड़ी एकाकिनी
मंद मंथर गति से
इष्ट मंदिर की दिशा में ।
हठात्;
आसन्न संध्या की नीरवता को चीरकर
एक ध्वनि भयंकर,
जन हीन विस्तीर्ण प्रांतर में
दसों दिशाओं को कँपाती आई,
"कौन ऽ कौन है ?"
सहज विश्वासशीला निर्मला वाणी ने कहा -
"बाबा ! मैं तुम्हारी बेटी -
जा रही हूँ दक्षिणेश्वर
तुम्हारे जामाता के पास ।"
वागदी डाकू की गति थम गई -
मुक्तिदायिनी ने
निज हाथों से खोली ग्रंथियाँ सभी -
मानो,
समुद्धर्ता नाम ही सार्थक हुआ ।
इतना ही नहीं,

ऐसा लगता है कि
ठाकुर का मातृमंत्र
रूपांतरित हुआ
जब -
मुँहबोली इस बेटी को
कालांतर में देखा बागदी दम्पती ने
साक्षात, भवतारिणी के रूप में ।
कहा था ठाकुर ने
"वह सारदा है सरस्वती
ज्ञान देने आई है ।"
अशिक्षित उस ज्ञानदात्री ने
ज्ञान को एक नया आलोक दिया -
अनित्य के आवरण से
छन-छन कर प्रवाहित होने वाले
प्रसन्न निर्मल ममत्व ने
संसार को सार दिया ।
और,
प्रकृति के प्राँगण में
चैतन्य के हृदयाकर्षी आनंदवर्षी नृत्य की
विलक्षण भंगिमा का अनुभव किया सबने -
"कुंदेदुंतुषार हार धवला" के
मूर्तिमंत सद्भाव और स्वीकार ने दी,
सभी संबंधो को एक नई दीप्ति,
और;
मातृत्व को मिली
मुक्ताफल की तरल कांति ।
सर्वाबांधवरुपिणी जगन्माता ने
सँवारा अपने हाथों से
सार - दा सारदा को ।
कहा था ठाकुर ने-
"मातृत्व भाव निर्जला एकादशी है ।"
मंत्ररूपिणी के लिए,

शिवतुल्य पति का यह भाव ही
बना महामंत्र -
और,
निर्जला एकादशी का अखंड व्रत
चलता रहा आजीवन ।
वासना गंधहीन इस व्रत में
गंगाजल भी अग्राह्य था -
जीवन पाथेय बना,
मंत्र चरणामृत ।
वह केवल
ईश्वर पथ निर्देशिकारिणी
गतिमुक्ति विधायिनी गुरु नहीं,
पर एक अपूर्व स्नेहशीला जननी थी,
जहाँ -
मोह विवर्जित गुरुमूर्ति
समाहित थी
(वात्सल्य रस के विभाव के रूप में) माँ के वात्सल्य में ।
पूछा एक दिन
गिरीशघोष ने -
"माँ" ! तुम कैसी माँ हो ?"
प्राणों के अंतिम छोर से आया उत्तर
"मैं" ! सचमुच की माँ हूँ,
गुरुपत्नी नहीं
मात्र संबोधनों की सीमा में बँधने वाली,
मुँहबोली माँ नहीं -
यहाँ तक कि-
जन्मदायिनी भी नहीं ।
इन सबसे कहीं अधिक
गंभीर अनन्य और हार्दिक
संबंध है मेरा -
मैं सबकी माँ हूँ
सचमुच की माँ
बस केवल माँ ही ।"

अध्याय - ५

माँ वह
तत्त्वरूपिणी - तत्त्वदर्शिनी,
निर्मल - प्रसन्न वात्सल्य रस ने
अपने लिए, अपने ही द्वारा
अपने ही आकार में
गढ़ा था जिसे ।
अद्वैतामृतवार्षिणी मातृमूर्ति
की प्रगाढ़ता को जाना था
अमजद डाकू ने ।
जेल से छूटने के बाद,
बेकारी के दिनों में,
तुच्छता बोध के एकाकी क्षणों में,
उसके भूखे पेट की भाषा को
माँ ने ही तो सुना था,
उसी ने ही तो सहलाया था
मस्तक की काली रेखाओं को ।
विशेष प्रेम था माँ को
अपने इस डाकू पुत्र पर ।
बड़े ही आदर से
खाना परोसती थी वह उसे,
पंखा झलते - झलते-
वहीं समीप बैठाकर कहा था
"निर्भय निश्चिंत होकर
शांति से भोजन करना बेटा -
मैं बैठी हूँ तेरे पास ।"
इतना ही नहीं -
जूठे पत्तल उठाते देखकर

जब नलिनी ने कहा,
"बुआ मुसलमान डाकू का पत्तल
उठा रही हो -
जात जो जाएगी तुम्हारी ।"
विरक्त हो मां ने कहा -
"चुप कर
क्या संतान और मां की
जात अलग अलग होती है ।"
फिर तुरंत ही
अपने आँचल से,
धरती को साफ किया माँ ने -
धुल गया दुष्कृत अमजद का
कल्याणी के स्पर्श से,
पहुँच गया वह
शारदानंद की कोटि में ।
माँ की अहैतुकी कृपा का
स्वरूप ही अनोखा था -
कहीं भी कोई रोता
तो आँचल माँ का
यहाँ भीगता था ।
जयरामबाटी स्थित
सिंहवाहिनी के मंदिर में
रो रही है पगली मामी,
माँ व्याकुल हो -
अस्त - व्यस्त दौड़ पड़ी घर से -
देश की दूरी सिमट गई थी
उस कृपा -कण में ।
सूक्ष्म, अपरोक्ष स्नेह तंतुओं ने बांधा था -
माँ को अभिन्नता से -

विश्व व्यापी संतान के साथ
सदा - सर्वदा के लिए,
और
व्यष्टि - समष्टि का अभेद मिलन
होता था नित्य निरंतर ।
कहा था एक दिन सुरेन बाबू ने -
"अभयदात्री अन्नापूर्णा तुम
प्यार तुम्हारा धन्य करता है हमें,
तुम्हारी ममता में
समाहित हो
जीवन की सभी उपलब्धियाँ
सार्थक होती है;
पर,
यह तो बताओ
तुम हमारे जूठे पत्तल
भला क्यों उठाती हो ?"
माँ के प्रसन्न नेत्रों में
आर्द्रता झाँक गई,
कहा उन्होंने विगलित स्वर में -
"बेटा ! माँ तो न जाने -
कितनी सेवा करती है अपनी संतान की,
मल - मूत्र भी लाते हैं, उसके लिए
अमरता का संदेश ।
तुम सब आये हो पास मेरे
बड़े होकर -
तब क्या मेरा इतना भी भाग्य नहीं
कि तुम्हारे पत्तल उठा सकूँ ।"
विस्मय - विमुग्ध सुरेन बाबू
भूल गए उस क्षण सब कुछ -

आपाद - मस्तक डूब गए वे
एक दिव्य अनुभूति में;
क्यों नहीं-
संपूर्ण ब्रह्माण्ड ही तो समा गया था
ऐश्वर्य विरहित कर्त्तव्य की गोद में
पल भर में ही ।
पर क्या-
यह स्वाभाविक परिणति नहीं थी -
उस नन्हीं बालिका की,
जिसके हाथों सौंपा था
भवतारिणी ने
अपने पागल शिशु को ?
जिसके हृदय विदारक क्रदन को
अनसुना करना संभव नहीं था
उसके लिए,
और -
वह राजरानी - विश्वमोहिनी
सिंहासन छोड़कर
उतर गई थी
धरती की ठोस भूमि पर,
थाम लिया हाथ उसने
अपने गदाधर का ।
इतना ही नहीं
छोटे ठाकुर की अंतरात्मा में
विराजती थी वह
ऐश्वर्यशालिनी -
चराचर ब्रह्माण्ड में व्याप्त था
उसी का प्रकाश -
आकाश की नीरवता

और जागतिक कोलाहल
सभी आविष्ट थे
उस मातृ विभूति से,
और
दिव्यानंद के आवेश में विभोर पुजारी
एक हो गया था
अपनी माँ से ।
माँ ने ही तो कहा था उसे
"तू भावमुखी रह ।"
परमहंस के सभी कार्य व्यापार
उसी भाव के उल्लास थे ।
एक दिन,
ऐसी ही भावमुखीनता में -
कहा था उसने माता चंद्रमणि को,
"मेरी सहचरी
मेरी भार वहन करने वाली तो
जयरामबाटी में चिह्नित रखी है ।"
सारदा ही तो थी वह -
निर्धारिता निर्वाचिता निवेदिता
स्वयं समर्पिता नैवेद्य ।
उसी बालिका को दिया था
भवतारिणी ने अपना स्थान
प्रेम प्रसादी बाँटने ।
तभी तो लिखा था विवेकानंद ने
गुरुभाई को -
"दादा, माँ के स्मरण से
उभरता है प्रश्न एक
को रामः ?
परमहंस रामकृष्ण -
ईश्वर या मनुष्य
जो भी कहना हो कहो -
पर,
माँ पर जिसकी भक्ति नहीं
उसे धिक्कार दो ।"

अध्याय - ६

माँ-

शिव - सीमंतिनी ।

सर्वबांधवरूपिणी का वरण किया था

साक्षात् शिव ने;

और,

मंगल सिंदूर ने मंडन किया था

उसकी माँग का ।

समवयस्का कृष्णांगी

कालिका से

बिम्ब प्रतिबिम्ब संबंध था

उसका

छोटेपन से ही ।

जलमग्न खेतों में काम करते समय

छोटी सारदा ने

सदा ही देखा

अपने पास -

अपरिचिता एक,

मौन निशब्द,

करती रही सहायता उसकी

सर्वदा ।

एक बार,

जीवन की यात्रा में

राह चलते चलते

अचानक ही

फिर पाया उसी
श्यामा सहचरी को
अपने पास;
अति समीप ।
जा रही है सारदा -
प्रथम बार, दक्षिणेश्वर
ठाकुर से मिलने -
पैदल ही ।
साठ मील का रास्ता,
तपती धूप, और बंधुर पथ-
पर,
मन का उल्लास
मानों समा नहीं रहा है
किसी भी सीमा में-
और
निरंतर बढ़ते दो चरण
विस्तृत मैदानों को
एक के बाद एक
सहज ही लांघते,
अक्लांत भाव से
नापते चल रहे थे
मिलन की सीमा रेखा को ।
असह्य कष्ट के क्षणों में -
हृदयस्थ आनंदघट
की छवि निहारती,
भाव-स्पर्श से पुलकित -
रोमांचित होती,
आशा - आनंद के अपार वेग से
सागर - संगम को

अग्रसर हुई जा रही
सारदा की नियति ने -
हठात्, करवट बदली-
और -
भीषण ज्वर से आक्रांत
सारदा को
रुक जाना पड़ा विवश हो ।
सब कुछ मानो
पल मात्र में
पानी की लकीर की तरह
विलीन हो गया ।
ऐसी घनघोर निराशा की स्थिति में
भग्न हृदया सारदा ने देखा -
वही बंधु -
साँवरी - सलोनी
अचानक आकर बैठ गई
उसके पास ही ।
विस्मित पूछा उसने,
"कौन हो तुम प्रेममयी,
भला कहो तो -
कहाँ से आ रही हो ?"
"मैंऽऽऽ
मैं तुम्हारी बहन हूँ,
दक्षिणेश्वर से आ रही हूँ ।"
दक्षिणेश्वर !
शब्द - स्पर्श से
शीतल हो उठे प्राण सारदा के
अमृतमय, आत्म - भैषज्य ही मिला उसे ।
"मैं भी तो वहीं जा रही हूँ

पर अव लगता है -

मनोकामना अधूरी ही रहेगी ।"

"ना ! ना !!

मैं जो तुम्हें लिवाने आई हूँ -

जानती हो-

वहाँ भोला शिव

प्रतीक्षा कर रहा है तुम्हारी -

शक्ति जागरण के लिए ।

तुम्हीं तो ले चलोगी उसे

हाथ पकड़कर -

सच्चिदानंद आलोक नृत्य में,

जहाँ से

चिरंतन सत्य एक विकीर्ण होगा -

अलौकिक दीप्ति स्मिति युक्त,

और सुदूर भविष्य तक

आलोक फैलेगा

उस विरागी के महाभाव का ।"

ब्रह्मवादी की घोषणा ने

भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर

स्वयं को सिद्ध किया

सारदा रूपी जीती जागती

प्रतिमा के रूप में -

"न वा अरे जायायै कामया जाया प्रिया भवति

आत्मनस्तु कामया जाया प्रियाभवति ।"

यही है सारदा

और क्यों न हो ?

शिवानी जो है वह

साक्षात् !

आत्माराम रामकृष्ण -

द्विरागमन कराने गए हैं -

जयरामबाटी;

सात वर्ष की बालिका

स्वतः प्रवृत्त हो

पति के चरण धोने लगी,

और,

अति आदर से

पोंछा उसने पति के चरणों को

अपने घने लंबे काले केशों से ।

पढ़ा था भारतीय मानस ने

कि कभी किसी समय

गंगा के अकुंठ प्रवाह को

धारण किया था

शिव ने जटाओं में ।

पर अब देखा,

ब्रह्म-द्रव को केश बद्ध करने वाली

शिवानी को,

तभी तो -

पवित्र - प्रसन्न स्नेहरस से

प्लावित होता रहा

असंख्य हृदय

उस महामानवी के वात्सल्य से

जहाँ -

माँ संबोधन मात्र से ही

कुछ भी अदेय नहीं था ।

दक्षिणेश्वर निवास काल में

एक दिन -

'नौबत' से भोजन

ले जा रही है माँ ।

स्वयं ही बनाया है सब कुछ
बड़े मनोयोग और दुलार से ।
खिलायेंगी ठाकुर को -
निरीह - शिशु जो है वह,
माँ का ही तो
दायित्व है न
उसे खिलाने का ?
सो,
थाली सजाकर ले जा रही हैं माँ;
अभी दो कदम ही चली है,
कि एक किशोरी ने
आकर कहा -
"माँ मुझे दो
मैं ले जाती हूँ -
खिलाकर ठाकुर को
हृदय तृप्त करने की
ललक है मेरी ।"
संतान की तृप्ति -
सर्वोपरि वरदान माँ के लिए,
जन्मजन्मांतर की अकाम कामना
की परिपूर्णता का ही पर्याय तो है ।
परोसी थाली
सहज भाव से
दे देती है माँ
उस किशोरी को ।
कुछ काल पश्चात्
जूठी थाली उठाने
पहुँची माँ,
और देखा,

थाली सजी सजाई रखी है -

ज्यों की त्यों,

ठाकुर ने स्पर्श भी नहीं किया है;

आश्चर्य मिश्रित स्वर में पूछा -

"तुमने खाना नहीं खाया ?"

रूठे शिशु का उत्तर था रोष - भरा -

"क्या तुम नहीं जानती

कि -

वह लड़की सदाचारी नहीं,

और क्या यह भी तुम्हें

ज्ञात नहीं

कि -

मैं स्वभाववश ही

दूषित कुछ छू भी नहीं सकता ?"

विना लाग लपेट के

असंग, गंभीर शांति से कहा था माँ ने -

"मुझे सब मालूम है -

भली प्रकार -

पर,

मैं क्या करुँ -

उसने जो माँ कहा मुझे ।

माँ कह,

कहीं भी कोई भी कुछ माँगे ।

मैं नकार नहीं सकती -

मेरी विवशता जो है ।
भला कहो तो -
संतान के लिए
कुछ भी अदेय है क्या ?"
ठाकुर विस्मय विमुग्ध हैं -
मन ही मन
नमन किया है उन्होंने
अबाध-अलौकिक मातृत्व को ।
एक दिन पगली मामी ने -
माँ की भर्त्सना की -
व्रह्माण्ड व्यापी मातृत्व को भला
सीमित भावापन्न हृदय
पकड़े भी कैसे ?
अत्यंत क्रोध में भरकर कहा था उसने
"सर्वनाशी"
रोम रोम काँप उठा माँ का,
व्यथा विजड़ित विकल वेदना ने
टूटे फूटे शब्दों में कहा -
"मुझे चाहे जो भी दंड दो
पर ऐसा मत कहो -
विश्वव्यापी संतान है मेरी
उनका अमंगल होगा ।"
यही है ग्रामीण किशोरी -
सारदा,
उच्छ्वास - अवसाद - अतृप्ति - रहित
दिव्य प्रेममयी
माँ ।

अध्याय - ७

माँ सारदा -

जहाँ,

मूर्तिमंत तुरीय मातृत्व की गोद में,

निराविल भावमुखीन विराग का

मुक्त रागातिशय अवतरण था

पदे - पदे ।

तभी तो,

परमहंस रामकृष्ण

की षोडशी पूजा का

अतुलनीय ऐश्वर्यबोध,

और

दुर्ललित राधू

का निर्मम पदाघात,

दोनों ही -

अतिसामान्य घटनामात्र की तरह

अर्थहीन हो -

उसकी कुमारी चेतना का

स्पर्श नहीं कर सके ।

मान - अपमान बोध से

सर्वथा अछूती माँ वह,

'पद्मपत्रमिवाम्भसा' ही

उसका अपना स्वरूप था ।

इसी सत्य को तो

दिखाया था ठाकुर ने

'योगिन माँ' को -

सहचरी वह माँ की

जिसे संशयग्रस्त हृदय में

विचार आया एक
"परम विरागी ठाकुर
की यह भला कैसी सहधर्मिणी है ?
जो
अपने परिवार से,
स्वजनों परिजनों से
आबद्ध है
आपाद मस्तक -
और,
दिन रात प्रतिपल
उनमें ही डूबी रहती है
आकंठ ?"
कुछ काल पश्चात् ही
ध्यानावस्थिता योगिन माँ ने
देखा था
ठाकुर का अवतरण
और गंगा की ओर
संकेत करते हुए उनकी
परावाणी को सुना था उसने
"देख योगिन !
गंगा में प्रवाहित
नवजात शिशु का
शव यह –
क्या कभी गंगा मां को
अपवित्र कर सकता है ?
नहीं न !
ठीक वैसी ही है
तेरी सारदा माँ
अपने वक्ष पर सभी कल्मष को

लेकर चलने वाली
पावन पवित्र एक जीवन धारा ।"
ऐसी ही तो है-
यह माँ
सीधी - सरल एक सामान्य ग्रामीणा
आपाततः भीड़ की ही कोई एक;
पर अपनी विशेषता में
दिव्य - आलौकिक
'अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' -
की ऋषिवाणी का
मूर्तिमंत विग्रह ।
इस विग्रह के
प्रत्येक स्पंदन में
विशुद्ध सात्त्विकता विकीर्ण होती थी ।
विगत विकार प्रार्थनामयी
नित्य ही
ब्राह्ममुहूर्त की
शुद्ध शांत बेला में,
नहबत की छत पर
एकाकी मौन - निवेदन
प्रेषित करती थी
अशेष भाव से -
"हे सर्वव्यापी विराट्,
सर्वान्तरात्मा विभु -
मुक्ताकाश में उदित इस चंद्रमा की भाँति
मेरा संपूर्ण जीवन
ज्योत्स्ना चर्चित हो;
इसमें तो फिर भी कालिमा है
पर;

मुझे सर्वथा निर्दोप करना ।"

वृंदावन प्रवास काल में -

निरंतर उच्च भावभूमि में अवस्थित

रहने वाली माँ ने,

राधारमण के प्रांगण में

करवद्ध, श्रद्धावनत, अश्रुपूरित नेत्रों से

माँगा था -

"कृष्ण ! ओ कृष्ण !!

ऐसी दृष्टि दे कि

मैं कभी भी

किसी का दोष न देखूँ ।"

ऐसा लगता है कि

सहज मुस्कान से कृष्ण ने कहा

'तथास्तु !'

क्योंकि;

देहवोध का प्रबल पुरुपार्थ

उंसकी शुभ्र प्रभा के समक्ष

हतप्रभ था,

और माँ ने,

ज्यों - की - त्यों धर दी चादर ।

शुभ्रा इस तपस्विनी ने

जयरामबाटी की ग्राम देवी

सिंहवाहिनी को जाग्रत किया,

अपने तपबल से ।

कठिन व्याधि की अवस्था में

आमरण अनशन का सत्याग्रह ले

पहुँची माँ

सिंहवाहिनी के द्वार

और,

सृष्टि - स्थिति - विनाश कर्त्री,
शरणागत परित्राण परायणा,
महाकारण भूता अभया के
कोमल कर कमलों ने
बड़े ही दुलार से
उठाया था लाडली 'सारु' को
और लगा लिया था
उसे हृदय से ।
तब से आज तक का इतिहास,
जयरामबाटी के इस आरोग्यनिकेत
का साक्षी है
कि,
वहाँ की माटी के प्रसाद कणों
का ग्रहण
आज भी
श्रद्धालुओं को
आधि - व्याधि के दंश से
मुक्त करता है ।
तपः पूत इस जीवन की गाथा में
उभरता है एक पृष्ठ
ज्वलंत, संभ्रमित करने वाला -
जब बेलूर स्थित
नीलांबर भवन में
ग्रीष्म के आतप-तापित
खुली छत पर
चतुर्दिक् प्रज्वलित अग्नि शिखा के बीच
पूरे दिन
शांत - निर्विकार सुखासन पर बैठी
माँ ने

लोककल्याण के लिए
'पंचतपा' की साधना की थी ।
माँ की इस तेजस्वी छवि का
अपना अनोखा ही सौंदर्य है
जो सहस्रों सूर्यों के प्रकाश को
अपनी शांत दीप्ति से
लजाता है ।
अमृतमयी इस माँ की
ममता का वात्सल्य
आज तक सींच रहा है
रामकृष्ण मठ रूपी वट वृक्ष की
जड़ों को,
और अमृताकांक्षी भक्तों के हृदय में
मैत्रेयी का दिव्यघोष
माँ सारदा के रुप में
अंकित है अशेष भाव से
"येनाहं नामृता स्यां
किमहं तेन कुर्याम् ।"

अध्याय - ८

माँ, वह -
मानो
निरभ्र प्रातःकालीन अनंत आकाश का
नीलकांतियुक्त शुक्रतारा-
जो,
ऊषा की लालिमा के पूर्व
त्रिताप तप्त जीव-पथिक को
कहता है चुपके - चुपके-
"डरो मत !
मैं हूँ तुम्हारे लिए ।
एक - एक कर यदि सभी तारे छिप भी गए
तो क्या ?
ऊषा का कहीं कोई चिन्ह नहीं
तो भी क्या ?
सूर्य के प्रखर प्रकाश को
अपने छोटे कलेवर में समेटे
निछावर करने स्वयं को धरा पर
मैं जो हूँ -
फिर भय क्यों ?"
यही है माँ सारदा
सामान्य मानवी की,
अति साधारण काया में,
माटी पर खड़ी,
मात्र दो कंधों पर
उठाया जिसने मातृत्व की
दिगंत व्यापी महत्ता को ।
एक दिन पगली मामी ने

माँ की भर्त्सना की,
उनकी अनुपम उदारता को,
ब्रह्माण्ड व्यापी मातृत्व को भला
सीमित भावापन्न हृदय
पकड़े भी कैसे ?
अत्यंत क्रोध में भरकर कहा था उसने -
"सर्वनाशी" -
रोम-रोम कांप उठा माँ का
व्यथा विजड़ित विकल वेदना से,
टूटे फूटे शब्दों में कहा -
"मुझे चाहे जो भी दंड दो
पर ऐसा मत कहो
विश्व व्यापी संतान है मेरी
उनका अमंगल होगा" ।
कठोर त्याग, प्रबल वैराग्य
और गंभीर तपस्या की प्रतिमूर्ति से
प्रंसवित होता रहा -
करुणा - प्रेम और सहिष्णुता का
निर्वाध प्रवाह,
जहाँ पदे - पदे
अहैतुकी कृपामयि माँ की
मनोमुग्धकारी छवि
अवतीर्ण होती रही
नित्य निरंतर,
और
उस ग्रामीणा की दिनचर्या में
उच्चतम आदर्शों का संग्रथन
मौन भाव से
सहज ही होता रहा ।

मठ के दातव्य चिकित्सालय में
बहुधा ऐसा होता कि
धनी व्यक्ति भी आकर
दवा ले जाते ।
विरक्त हो,
संयासी शिष्य ने
उपालंभ भरे स्वर में पूछा
"मां ! कहो तो
क्या मैं इस प्रकार
सबको ही
निःशुल्क दवा देता रहूँ ।"
माँ का संक्षिप्त उत्तर था
"हाँ ।"
"पर उनके पास पैसा जो है
वे तो धनी लोग हैं ।"
उत्तर -
अभूतपूर्व अश्रुत था माँ का -
"देना ही होगा हमें ।
बेटा ! गरीब तो वही है न
जो माँगता है ।"
ज्ञानी - ध्यानी - निष्कामकर्मी,
शिवभाव से जीवसेवा का व्रती
वह सन्यासी निर्वाक् था
अपनी इस माँ की
परा वाणी से ।
सर्वांगीण सुंदर इस जीवन के ताने बाने में
मजीठ के रंग की तरह
सहज आत्मीयता और
प्रगाढ़ एकात्मता की

गाढ़ी लालिमा थी
जो,
पर - दोषों में भी
रंग गहरा भरा करती थी
निर्दोष चेतना का ।
एक बार,
'गोलाप माँ' डाँट रही थी
किसी सेविका को
त्रुटि के लिए ।
कारण पूछने पर
माँ से कहा उन्होंने -
"तुम्हें कहने से क्या लाभ
तुम्हें क्या कभी
किसी का
कुछ भी दोष
दीखेगा ?"
तथ्यपूर्ण उत्तर आया
ममतामयी का -
"दोष तो सभी देखते हैं-
मेरे दोष न देखने से
प्रलय तो नहीं हो जाएगा ।
मानव तो दोषपूर्ण है ही
भला उसके क्या दोष देखना ?"
जीवन व्यापी तप की
निःश्रेयस - अभ्युदयकरी वाणी माँ की
आज भी
अनुरणित है -
"यदि शांति चाहती हो बेटी
तो कभी किसी के भी

दोष मत देखो ।

यहाँ तो कोई पराया नहीं है
सबको अपना बना लेना ही तो
जीवन की धन्यता है ।"
समरस शांत जीवन की
दिव्य झांकियों ने,
माँ की लज्जाशीलता के
अभेद्य आवरण को
अलंकृत किया था -
और न जाने
कब कैसे
एक स्नेहमय शांतिदायक
प्रबल प्रवाह -
अनायास ही
प्राणों को खींच लेता था ।
इस अंतरस्पर्शी शांत स्नेह धारा
का अनुभव किया था सबने -
यहाँ तक कि,
विदेशिनी निवेदिता ने भी ।
दोनों में प्रायः ही
अपरिचित भाषा में
हृदय संवाद होता रहता था ।
प्रश्न अंग्रेजी में
और,
उत्तर बंगला में ।
हँसकर पूछा था 'गोलाप माँ' ने
"तुम क्या अंग्रेजी समझाती हो
जो उससे बात करती रहती हो ?"
हँसकर कहा था ।

सहृदया माँ ने
"बुद्धि से नहीं -
मैं तो,
हृदय से बात करती हूँ,
हृदय तो सबका एक है न ?"
इसी विश्वात्मा माँ को ही तो -
लिखा था निवेदिता ने
"मुझे स्मरण हो रहा है,
एक दिन मंदिर में,
सांध्य आरती के समय
तुम्हारे कमरे मैं बैठकर
ध्यान करने का प्रयत्न करते समय
भला मैंने क्यों नहीं समझा,
कि
तुम्हारे नन्हें चरणों तल पर
शिशुवत् बैठना ही पर्याप्त है -
जीवन की सद्गति के लिए ।
तुम प्रेममयी हो -
सर्वकल्याणी
त्रिताप हारिणी
शुद्ध और पवित्र ।"
अमला इस माँ की पवित्रता
स्वरूपतः शुद्ध - बुद्ध - मुक्त
स्वयं को सदा ही
अनावृत करती थी ।
जीवन प्रवाह की वह रात
जब ब्राह्मण रसोइए ने कहा
"माँ !
अभी आते - आते

पथ पर एक श्वान का
स्पर्श अचाहे ही
मुझे हुआ हैं -
अतः
स्नानकर
पवित्र होकर आता हूँ ।"
"रात अधिक हो गई है,
स्नान मत करो,
बस गंगाजल की पवित्र बूँदे,
डाल लो मस्तक पर ।"
"नहीं -
मुझे तो नहाना ही होगा ।"
नितांत सहजता से कहा था माँ ने
उस ब्राह्मण को
"तब फिर मेरा स्पर्श कर लो ।"
नमन है -
उसी आपाद - मस्तक,
जीवन व्यापी पवित्रता को
"पवित्रं चरितं यस्या :
पवित्रं जीवन तथा -
पवित्रता स्वरूपिण्यै
तस्मै कूर्मो नमो नमः"

अध्याय - ९

माँ पराम्बा;

'गुहाहित प्रत्यगात्मा' का प्रकाश

विस्तारित था सर्वत्र

आदर्श जननी के रूप में ।

देव - शिल्पी की

अलौकिक अपूर्व साधना

का मूर्तिमंत रूप -

यही है माँ सारदा ।

यह माँ

चेतन - अचेतन,

गुरु - शिष्या,

चर - अचर,

नेति - इति आदि के

परस्पर विरुद्ध धर्माश्रयी संबंधो को

समभाव से समाहित करती है

मातृत्व की धवल शोभा में ।

माँ ने स्वयं कहा था,

"ठाकुर का विश्व के कण कण से

मातृभाव था -

उसी का परिपूर्ण विकास करने

वे मुझे

संसार में रख गए हैं ।

जिससे

सारा संसार समा जाये

मुझमें

एक मानवी में ।"

ठाकुर के संन्यासी, गृही शिष्यों ने,
माँ के स्वयं के असंख्य
स्वजनों ने,
घास की फुनगी पर पड़े
एक लघु शिशिर बिंदु में
प्रतिफलित, देखा -
असीम अनंत सुनील आकाश को,
एवं सब ने सुना भी था -
क्षुद्र शंख के गंभीर सुरों में,
विशाल समुद्र के दुरंत आह्वान की
प्रतिध्वनि को ।
और पाया सबने
जगज्जननी को
सर्ववैभव हीन
एक साधारण मानवी
के परिधान में ।
सर्वसंगी - असंगी वह,
साधारण फिर भी असाधारण,
अतुलनीय स्नेहमयी,
प्रेम आनंदमयी,
दया - क्षमा - अमृतमयी,
विश्वप्लावी प्रेम से आप्लुत -
फिर भी -
त्यागमयी संन्यासिनी ।
इस माँ ने
जाना था
पहचाना था
और प्रतिपल - आचरित किया था -

ऋषि अनुभूत सर्वोपरि सत्य को
कि -
काम्य कर्मों का न्यास ही
संन्यास है,
और, कर्मफलों का त्याग ही
विशुद्ध त्याग है ।
दक्षिणेश्वर में
प्रेमोन्मत्त, समाधिमग्न ठाकुर
के चतुर्दिक्,
सदा ही एक मेला सा
लगा रहता था
आर्त - जिज्ञासु - ज्ञानी भक्तों का ।
और माँ,
भोजन के समय
उनके समीप बिताए
कुछ पलों को ही
चुनकर सहेज लेती थी
अपनी परम निधि
के रूप में ।
वे ही क्षण तो
कुल संपत्ति थे माँ की ।
पर,
तृप्ति - दायिनी ने
स्वयं को भूलकर
तृप्ति के उन अमोल पलों को भी
आर्त संतान के लिए
निछावर किया था,
जब कि,

ठाकुर को भोजन कराने का भार
गोपाल सुंदरी ने
बरबस ही ले लिया था
अपने ऊपर ।
वहीं बैठी वह घंटो बांत करती ठाकुर से
और इधर माँ नौबत में बैठी
मौन शांत भाव से
गोपाल सुंदरी की प्रतीक्षा करती,
उसके लिए
थाली परोस कर -
भला उसे खिलाये बिना
वे स्वयं कैसे खाती ?
न जाने कितनी बार
उस प्रेममयी ने
स्वयं को बिसराया था
संतान के लिए ।
नीरव प्रेमाकृति से प्रवाहित
स्निग्ध शांति का अनुभव
जयरामबाटी में हुआ
एक सन्यासी पुत्र को ।
एक रात
जब सारा ग्रामीण अंचल
थका सोया था
गहरी नींद में,
तब हठात् ही
वातावरण की एकांत नीरवता में

अनवरत होने वाले
धीमे धीमे शब्द से
जाग गई उसकी चेतना ।
सोचा उसने विस्मय से
अरे ! यह तो
माँ के दरवाजे के बाहर ही
कोई पत्थर तोड़ रहा है ।
और वह चिंतित हो उठा
प्रत्येक जागृत क्षणों को
भरपूर श्रम से सार्थक
करने वाली माँ
कहीं जाग न जाय
कुछ समय उसे भी तो
विश्राम के चाहिए ।
बाहर निकलने पर
जो पाया, देखा -
वह तो अकल्पित ही था ।
माँ स्वयं ही
बड़े मार्दव से
तोड़ रही थीं -
एक उभरी
नुकीली ईंट को -
समतल बना रही थी वह
पथ -
राहगीरों के लिए ।
पूछा उसने -
"माँ तुम !

दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद
यह क्या ? कहो तो ?
क्या तुम्हें अपने लिए
घंटे दो घंटे का कभी
विश्राम नहीं चाहिए ?"
धीमे कोमल शब्दों में
माँ ने उत्तर दिया,
"शाम को सुना कि
राह चलते
एक पथिक को
इससे चोट लग गई ।
दिन भर का यातायात
मेरी व्यस्तता
और तुम लोगों की
कठोर - गहरी - अभिरुचि -
दिन में तो यह काम
संभव ही नहीं था,
अतः सोचा कि
रात में ही
यह काम
चुपचाप संपन्न करना होगा ।
पर,
देखती हूँ कि
किसी को असुविधा में
न डालने की
आंतरिक इच्छा मेरी
निरर्थक ही रही,
तुम्हें तो उठा ही दिया न

अहा ! कष्ट हुआ तुम्हें ।"
इस माँ की ममता
छू रही थी आकाश को
तभी तो मुक्तता बंधी थी
प्रगाढ़ रागात्मिक भक्ति से ।
और,
जीवन - कव्य माँ का
संग्रथित था
दिगंत व्यापी शुभ्र -
शुद्ध - प्रबुद्ध राग मणियों से,
जिनके पारदर्शी संवेदनों से
विकीर्ण थी,
आंतरिक असंगता
सप्तवर्णी संग - रंगों में ।
एक शिष्य माँ का -
पथभ्रष्ट, चरित्रहीन, दिशाहारा,
प्रायः ही आता था दर्शन को,
और
'मास्टर महाशय' व्यस्त हो उठते
उसे देखकर ।
अंततः कहला ही भेजा उन्होंने
माँ को -
कि,
उसका आना
माँ से मिलना
बंद हो तो श्रेयस्कर रहेगा ।
मां ने
बड़ी ही सहजता से कहा था

बच्चे के शरीर पर
यदि पथ की धूलि जमी हो तो,
माँ क्या उसे साफ कर
नहीं बैठायेगी
अपनी गोद में ।
और एकबार
किसी कुख्यात महिला भक्त के
आने पर -
जब एक अंतरंग महिला शिष्य ने
विरक्त हो
भर्त्सना से कहा -
"वह यदि यहाँ आती रही
तब -
हम संभ्रांत लोगों का
यहाँ आना
कैसे संभव होगा ?"
माँ ने बिना किसी
राग - विराग के
अपनी आंतरिक स्वाभाविकता
में ही कहा -
"जिन्होंने अपना भार
मुझे दिया है ।
जो मेरे आश्रित हैं -
अपने विकास के लिए -
वे तो निर्विवाद ही
यहाँ आयेंगे ।
उनके आने से

यदि किसी को असुविधा हो
तो -
वे भले ही न आवें ।"
विरागमयी का यह प्रगाढ़ राग ही तो
प्रतिफलित था -
त्याग - तितिक्षा
भाव - महाभाव - समाधि
जीव दया
ब्रह्म दृष्टि
करुणा - प्रेम के
अनगिनत प्रसंगों में ।

अध्याय - १०

माँ -

विपद् - तारिणी

सर्वबाधाप्रशमन कारिणी ।

साधनामयी की तपः प्रभा ने

न जाने कितने ही

साधनहीन आर्तजनों को दिया

आलोकित अयाचित अभयदान ।

बाग बाजार आश्रम में,

अश्रुमुख ब्रह्मचारी ने

कातर भाव से कहा था -

"माँ

साधन - भजन में अक्षम मैं

भला कैसे करुँ

जीवन कृतार्थ ?"

अंतःकरण भीज उठा

भक्तानुग्रहकारिणी का,

तरल करुणा का प्रवाह उमड़ा -

और,

ले लिया संपूर्ण भार उसने

साधनहीन पुत्र का ।

सहज ही कहा माँ ने-

"बेटा मेरे करने से ही

सब हो जाएगा ।"

और,

'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की विभुवाणी

सार्थक हुई

भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर ।

पर,
अबकी बार
भार - वहन करने की प्रतिज्ञा
किसी
धर्म संस्थापनार्थाय अवतरित ब्रह्म
के द्वारा नहीं की गई,
न हि किसी ब्रह्मवेत्ता गुरु ने
अधिकारी शिष्य का
वरण किया था । यह तो,
मातृहृदय का समर्पण था
साधनहीन शिशु के प्रति ।
लिखा था स्वामी शिवानंद ने -
"वे साधारण मानवी नहीं,
न तो वे साधिका ही है;
और न सिद्धा -
वे तो हैं,
नित्यसिद्धा आद्यशक्ति
काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी ।
सर्वधर्मस्वरूप परमहंस रामकृष्ण
की
मातृवंदना का
सप्राण जीवंत विग्रह ।"
सबका - प्रतिपल यही अनुभव था
कि
दक्षिणेश्वर की भवतारिणी माँ ही तो
नौबत में
भक्त बालकों के लिए
भोजन बनाने में अहर्निश
व्यस्त रहती है ।

कहा था ठाकुर ने -
पंचवटी में ध्यानस्थ स्वामी अद्भुतानंद को
"ओ रे लाटू ।
तू जिसका यहाँ ध्यान कर रहा है,
वह तो -
नौबत में तेरे लिए
रोटी बना रही है ।
जा जा जल्दी -
उसके लिए आटा गूंथ दे,
धारणा - ध्यान - समाधि
सभी की धन्यता तो
तेरी वही है ।"
भोजन बनाने वाली
इस माँ की असीम अनुकंपा का स्रोत
उमड़ा करता था
दिव्यता की अंतिम गहराइयों से,
और -
अंकित होती रहती कथा
अगणित जीवन पृष्ठों पर
तथा,
काल का पुरुषार्थ अनायास ही
समर्पित हो जाता
मृत्युंजयी माँ के
सुकोमल चरणों पर,
इसी मर्मस्पर्शी सहृदयता का
घनीभूत शब्द विग्रह है
क्षिरोदवाला की गाथा -
मानो,
उजले पृष्ठ पर लिखे गए

धवल शुभ्र अक्षर ।
बाल विधवा वह,
जाति से कायस्थ
वैधव्य के कठोर अनुशासन में
प्रतिपल कुंठित जीवन धारा को
अचानक ही मिली एक नई दिशा -
जब वह जा मिली
उच्छ्लित ममता के
प्रशांत अथाह महासागर से ।
एक दिन,
कठिन चर्मरोग के पीड़ित
दो हाथ -
विजड़ित,
संकुचित,
स्वयं को लपेटे आँचल में
बढ़े -
किया चरण स्पर्श माँ का ।
आशीर्वाद देते,
मन ठिठक गया माँ का,
झीने आँचल का व्यवधान
इतना गुरुतर लगा उन्हें
कि,
स्वाभाविक संकोच छोड़,
थाम लिया उन्होंने
क्षिरोदबाला का पीड़ित हाथ,
सहलाया उसे
बड़े मार्दव से,
और,
अचानक ही

जल्दी - जल्दी जाकर
पूजा घर से उठा लाई
ठाकुर का चरणामृत पात्र,
आतुरता से कहा उन्होंने -
बेटी ! हाथ अपना डुबा दो इसमें ।
अवाक् क्षिरोद ने
ज्योंहि हाथ अपना डुबाया,
दोनों हाथ जोड़
दिगलित कंठ से
कातर प्रार्थना की माँ ने -
'ठाकुर ! प्रेमावतार तुम
ठीक कर दो न इसका हाथ ।'
घटित हुआ चमत्कार एक
संत - कृपा का -
बीमारी धुल
घुल गई थी
ठाकुर के चरणों में ।
माँ ने ठाकुर को
नमन कर कहा उससे -
बेटी गृहकाज तो तुम्हें करना ही होगा ।
पर,
जब भी, चर्म रोग उभरे
बस, अनन्य श्रद्धा - भक्ति से
डुबा देना हाथ
उन्हीं पादपद्मों में ।
मुक्तिदायिनी - वरदायिनी,
माँ सारदा
" सैवा प्रसन्न वरदा नृणां भवति भुक्तये ।"
इसी मीनाक्षी की

अनुकम्पा ने ही तो
असंयमी - उद्दंड
गिरीश घोष का
पुनर्निमार्ण किया था
शांत - शिष्ट शिशु के रूप में ।
कहा था उसने
"मेरी माँ सनातनी
संताप हारिणी हैं ।
महाशक्ति स्वरूपिणी का अविर्भाव
गृहणी के रूप में हुआ, गृहकार्य में डूबी है ।"
बड़े ही चाव से
गिरीश बाबू ने
शारदीया - पूजा का प्रारंभ किया
माँ के कर कमलों द्वारा ।
तीन दिनों तक
अनवरत -
ज्वराक्रांत माँ ने
पूजा - अर्घ्य स्वीकार किया -
परिणामतः
महाष्टमी की रात्रि,
संधिपूजा की बेला में
ज्वर का आवेग बढ़ चला
और
पूजा मंडप में जाना संभव न हो सका ।
हताश,
गिरीश बाबू
एकांत में बैठ क्रदन करने लगे ।
"माँ नहीं आईं
मैं जाकर क्या करूँगा ?

इष्ट के बिना -
पूजा भी किसकी करूँ ?"

अचानक
पीछे के द्वार पर पड़ी,
दस्तक की आवाज से
टूटी उसकी भावधारा

और
द्वार खोल देखा उसने
माँ को ! अपनी माँ को !
गुरु को ! इष्ट को !

माँ ने कहा -
"मैं आई हूँ ।"

दिव्यानंद की तरंग से
आंदोलित हो उठा हृदय
आवेगपूर्ण कंठ से
मातृवंदना की उसने

"या देवि सर्वभूतेषु
मातृरूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै,
नमो नमः ।"

अध्याय - ११

माँ -

दुर्गतिनाशिनी दुर्गमा ।

दुर्गनिवासिनी दुर्गमा वह

आई

सर्वजन सुलभा सारदा के रूप में ।

और

सिंहवाहिनी महिषविमर्दिनी

चलती रही -

नंगे पैरों

वसुधा पर,

समेटती रही वह कल्मष,

जन - जन को

लुटाती रही प्रेम -

अंजली भर - भर ।

शंकरी के निर्मल प्रेम से

अभिषिक्त होता रहा

असंख्य मानस,

शमित होती रही आधि - व्याधि

भस्मीभूत हुए शाप-ताप ।

पगली राघू ने जब किया

निर्मम पदाघात,

तब अविलम्ब ही

अपनी ही चरण धूलि,

स्वयं अपने ही हाथों से

लगाया था माँ ने

उसके मस्तक पर -

प्रार्थनामयी ने पुकारा था

प्राणभर

"ठाकुर उसे पाप न देना
वह नहीं जानती
कि
क्या कर रही है वह ।"
ऐश्वर्य विरहित आद्यशक्ति रूपिणी
का आविर्भाव
हुआ करता था
अकिंचन निरीह हृदयों में ।
एक दिन
कामारपुकुर से जयरामबाटी
जाते समय
रास्ते में
कपड़े की पोटली लेकर
पीछे पीछे चलने वाले
बालक शिवराम ने देखा
कुछ अनोखा,
अभिभूत-ठिठक कर खड़ा हो गया वह ।
पैरों की आहट न पा
माँ ने जो घूमकर देखा
तो पाया
उसे विस्फारित नेत्रों से
सुदूर कहीं कुछ देखते;
पर वह तो,
माँ को एकटक-अपलक
देख रहा था ।
कहा माँ ने -
"अरे शिबू
तू क्यों खड़ा हो गया
चल आ !"

पूछा उसने एक बात बता सकती हो,
"कौन हो तुम ? "
"अरे ! मैं कौन हूँ भला
मैं तेरी चाची ।
और कौन ?"
बालक शिबू ने जिद पकड़ी
"ठीक है ।
मैं नहीं जाऊँगा साथ -
वह रहा घर
तुम अकेली ही
चली जाओ ।"
बाध्य होकर माँ ने कहा
मानो अपने स्वरूप का निर्वचन
किया जगन्मातर् ने
"लोग कहते हैं काली ।"
"सच है न" ?
"हाँ ! सच ।"
रक्षाकाली का यही रूप
परिपूर्ण उभर कर आया
बागबजार के निवास काल में ।
एक संध्या
जप निमग्ना माँ ने सुना
सामने खुले मैदान से
अनवरत-आनेवाले शब्द,
मार रहा था एक श्रमिक
अपनी पत्नी को
अमानुषिक क्रोध में भरकर ।
जप-ध्यान-समाधि,
समाधिजन्य दिव्यानंद का

कोई अर्थ नहीं रहा
माँ के लिए
और
अपनी स्वाभाविक विनम्रता छोड़
कपालिनी ने कड़क कर कहा -
"ठहर दुष्ट
क्या मार डालेगा उसे ?"
ज्यों ही देखा
उस श्रमिक ने ऊपर,
तेजपुंज़ से हतप्रभ हो
चुपचाप
सिर नीचा कर
चला गया वहाँ से ।
विषधर नाग मानों
नाथा गया
पुनः एक बार ।
तभी तो लिखा था
ठाकुर के ईश्वर कोटि पार्षद
स्वामी प्रेमानंद ने -
"कैसी अपूर्व महाशक्ति है !
जय हो ।
महाशक्ति रूपिणी
तुम्हारी जय हो !
जिस विष को हम नहीं पचा सकते
भेज देते हैं उसे
पास तुम्हारे,
और तुम
सबको अपनी गोद में
खींच लेती हो ।

हे अनंत शक्ति
हे अपार करुणा
जय हो ।
तुम्हारी जय हो !!"
महेश्वरी का शुभागमन हुआ
एक बार
दक्षिण भारत में ।
बंगलोर शहर के
विशाल जन समुदाय ने
देवी की पूजा अर्चा की
हार्दिकता से ।
अभय मुद्रा धारण कर
माँ ने
दिया अशेष आशीष सबको ।
और
वातावरण को दिव्य - अतींद्रिय
अनुभूति से
प्लावित किया,
प्रगाढ़ आनंद धारा ने
जो
शांत - धीर - मौन
देवी प्रतिमा से
प्रतिपल प्रवाहित था
चतुर्दिक् ।
वहीं-
आश्रम - प्रांगण में
एक दिन सांयकाल
छोटे पहाड़ पर चढ़
अस्ताचलगामी सूर्य को

मग्न हो निहारती

माँ की -

प्रसन्न छवि देख,

भाव - विह्वल स्वामी रामकृष्णानंद ने

उच्छ्वसित हो कहा

"देखो पर्वतवासिनी माँ

साक्षात् शिवा ।"

मंगलमयी माँ की

रोग - हारिणी कृपा का अनुभव हुआ,

एक विदेशी महिला को,

अपनी लड़की की बीमारी में ।

व्याकुल हो वह आई

करुणामयी के पास

जीवन दान के लिए -

"माँ ! वह लड़की बहुत अच्छी है,

दया करो !

उसे ठीक कर दो !!"

अम्बिका ने आश्वासन दिया

"मैं प्रार्थना करूँगी

वह अच्छी हो जाएगी ।"

और,

ठाकुर का प्रसादी फूल - बेलपत्र

हाथ में ले

कुछ क्षण आँखें बंदकर

मन ही मन

वंदना की माँ ने,

फिर

ठाकुर को

अपलक नेत्रों से देखकर

उसे दे दिया
विदेशिनी को ।
कहा माँ ने,
मृत्युंजयी वाणी में
"अपनी लड़की के सिर पर
इसे फेर देना ।"
दो दिन पश्चात् ही,
वह स्वयं आकर
बेटी के स्वास्थ्य लाभ की सूचना
दे गई ।
इतना ही नहीं
मंत्र दीक्षा ले
भूरि-भूरि प्रणाम किया उन्हें
"पाप हारिर्णी देवी भुक्ति-मुक्ति प्रदायिनी
अनंता विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम्
नमस्ते अस्तु भगवति
"मातरस्मान् पाहि सर्वतः ।"

अध्याय - १२

माँ
तृषाहारी अमृत घट ।
रामकृष्ण परमहंस की
अकल्पनीय उत्कट साधना के
दीर्घकाल व्यापी
हृदयमंथन का
सत्य ।
सत्य यह,
आडंबरहीन, सर्वग्राह्य
सहज सरल प्रेम ही था
जो समा गया
उस अक्षय मंगल कलश में,
तभी तो -
चुपचाप सींचती रहीं माँ
एक प्रेमबेलि आजीवन,
और,
प्रवाहित होता रहा अनवरत
शीतल कोमल प्रेम बिंदु
जहाँ -
अभिमंत्रित दीक्षित संतान ही नहीं -
अनजान - अपरिचित जन भी
मिटाते रहे थकान ।
चर्चा इस प्रेममयी की
सुनते रहते सभी -
सदा ही,
जागती रहती प्यास

उनके दर्शनो की ।
ऐसा ही एक सामान्य व्यक्ति,
मातृ दर्शन की लालसा ले
चल पड़ा,
विष्णुपुर से जयरामबाटी को;
पथ में, रात को
देखा उसने स्वप्न एक
माँ ने दिया उसे,
उस क्षुद्र अकिंचन को
प्रेम - प्रसादी
दूध - भात एक कटोरे में ।
पल भरके इस स्वप्न दर्शन ने
साक्षात्कार की व्याकुलता को
मानों
अधिक प्रगाढ़ किया
जो
जयरामबाटी जाकर ही
शांत हुई ।
तृप्ति ! वह कैसी तृप्ति थी!!'
आत्मन्येवात्मना तुष्टः'
जहाँ फीका लगा ।
मनः स्थिति कुछ ऐसी बनी
कि
मंत्र दीक्षा ही असार हो गई
माँ की गोद मे ।

अनुपम मातृत्व की
अभिव्यक्त होती पदे - पदे
छोटे - छोटे दैनिक प्रसंगों में
जहाँ
सबके लिए
सब कुछ,
हुआ करता
उनकी ही रुचि के अनुकूल ।
त्रिगुणातीत भक्त -
नाग महाशय के
श्वास - प्रश्वास से
इसी माँ की झंकृति
अपने में - गूंजती अनवरत ही
प्रणव के अमात्र - तुरीय को
मुखर करती हुई ।
माँ-बड़े ही दुलार से खिलाती
अपने इस भोले शिशु को,
अपनी ही थाली से ।
नाग महाशय अवर्णनीय आनंद से
भर - उठते -
पुकार - पुकार कर कहते वे
"जन्म जन्मांतर की तृष्णा
अंतरतम की अभीप्सा
पूरी हुई माँ !
"ओ माँ ! मेरी माँ !!
तुम ठाकुर से भी महान हो
मैं धन्य हूँ ।"
और भावोन्मत वे
प्रसादी का पत्तल भी खा लेते ।

क्यों नहीं -
स्पर्श जो उस पत्तल को मिला था
स्नेहमयी का
फिर क्या
वह अमृत नहीं हो गया ?
और गोलाप माँ -
शिष्या ठाकुर की
धन्यता के शिखर पर पहुँच ही तो गई,
जब उसने जाना कि
उसकी गूँथी हुई चोटी,
माँ, अनेक दिन के उपरान्त भी
किसी को छूने नहीं देतीं -
कहा करती वे -
"गोलाप ने बड़े प्रेम से गूँथा है इसे
वही आकर खोलेगी ।"
ठाकुर के मानस पुत्र
गोप सखा,
जीवन्मुक्त स्वामी ब्रह्मानंद ने
सागर की अतलस्पर्शी निस्तरंगछबि को
निहारा था
माँ सारदामणि के रूप में,
"आपात सामान्या सरला
इस माँ में
स्वरूप बोध की अकुंठ - अंतःसलिला
प्रवाहित रहती है
पर,
विद्या स्वरूपिणी महामाया
उसे मातृप्रेम से सदा ही
गोपन रखती है ।

कैसा सुदृढ़ आत्म संयम !
कैसी गरिमामयी प्रशांति ।।
भाई !
यदि ठाकुर के परमानंद तक जाना है,
तो चलो,
माँ के पास ।
वहाँ वह श्रद्धामयी
तत्परता से देख रही है बाट,
तुम्हें निर्मल बनाने
आत्यंतिक तापमुक्ति प्रदान कर
तुम्हें निरातिशय आनंद देने ।"
ठाकुर ने स्वयं ही -
सहास्य माँ के स्वरूप का निर्वचन किया था
"ओ रे ! रामलाल
देख, तेरी चाची को नाराज मत करना,
मुझसे जो विमुख है,
उसका उद्धार तो
वह त्राणदायिनी
सहज ही कर सकती है
पर,
यदि वह रूठ गई तो
ब्रह्मा - विष्णु - महेश भी
तुझे नहीं बचा सकेंगे ।"
जिस माँ की कृपा दृष्टि के
एक लघु कण से ही
प्रत्येक नारी में -
विश्व जननी के साक्षात् दर्शन की क्षमता
का वरदान,

सहज ही मिलता था,
उन्हीं पादपद्मों में श्रद्धावनत
स्वामी सारदानंद ने कहा -
"हमारी सीमित शक्ति से
माँ को जानना क्या संभव है ?
बस इतना ही कि -
वे माँ हैं !
अत्यधिक संवेदनाशील हृदय,
और;
तीव्र मेधा संपन्न
सर्वरागी - विरागिनी ।
तुम्हारे लीला विलास की रंगमयी विविधता,
व्याप्त है चतुर्दिक् -
विश्व मेला यह,
बनना और मिटना इसका;
तुम्हारा ही खेल है एक क्षणिक ।
दीर्घकालीन सामीप्य तुम्हारा,
मिला मुझे
फिर भी पहचान न सका तुम्हें
तनिक भी ।
नहीं जानता कि नाचूँ ।
या कि
बहाऊँ आँसू चुपचाप -।"
अवाङ्मनसागोचरा यही माँ -
एकदिन
किसी एक महिला की दीक्षा के समय
बड़े ही
सहज भाव से
ठाकुर - पूजा के लिए सजी

फूलों की डाली से
कुछ फूल
उठाकर रख देती है पृथक्
और,
दीक्षोपरांत
उस महिला से
साग्रह कहती है -
"मेरे पैरों में पुष्पांजली
निवेदन करने की साध है न तेरी ?
तो ले
ये फूल
चढ़ा दे ।"
महिला भक्त ने चढ़ाया फूल
श्रद्धा से
और की प्रार्थना मौन -
"सर्व देवदेवी कृपामयी
असीम कल्याणी असुरजयी
देव करो माँ मानव जन को
दीनता - भीरुता दूर करो माँ !
मन - संशय तुम दूर करो माँ !
परमेश्वरी - विश्वधात्री तुम
दो आलोक
माँ कृपामयी ।"

अध्याय - १३

माँ -

जिसके;

सर्वसंकल्प त्याग ने

सिरजा एक विग्रह

सर्वजयी मातृस्नेह का ।

नृत्यमय इस भागवती प्रेम के,

मनोमुग्धकारी लास्य का

सुस्थिर - रंगपट था -

परमहंस रामकृष्ण की मातृ वंदना का

दिगंत व्यापी -

प्रेमोज्ज्वल स्वरूप ।

लोकोत्तर इस प्रेम की

मानवीय काया में

देवी मातृत्व का ऐश्वर्य समाया था

अपनी उदात्त पराकाष्ठा में ।

माँ ने आजीवन,

अनेक संतानों को दीक्षित किया

संन्यास धर्म में,

दुर्गम त्याग पथ पर

अग्रसर किया उन्हें,

अम्लान भाव से,

तटस्थ वीतरागी की तरह,

पर -

किसी को,

किसी भी दिन,

उनके संन्यास नाम से पुकारना

संभव ही नहीं हुआ -

करुण मुखमंडल से वे कहा करती

"मैं माँ हूँ न ?
इसीलिए संन्यास नाम लेकर
पुकारने से
हृदय में धक्का लगता है ।"
उनकी अकल्पनीय ममता का स्वर-ग्राम,
स्वयं में समेट लेता था -
मातृत्व के
सामान्य - असमान्य सभी आयामों को ।
अनुभव ऐसा ही
उस विराट् अपार्थिव प्रेम का
हुआ
स्वामी विरजानंद को ।
कालीकृष्ण नामधारी वह
तरुण ब्रह्मचारी -
बाराहनगर मठ के निवास काल में
ठाकुर के संन्यासी अन्यतम
शिष्यों से -
सदा ही
सुना करता चर्चा
एक ममतामयी
मातृमूर्ति की,
और प्राण उसके
लालायित हो उठते
देखने उसे ।
सुयोग आ ही गया एक,
जब कि -
जगद्धात्री पूजा के लिए
स्वामी सारदानंद तथा अन्य,
उच्चकोटि के साधकों के साथ

पहुँच गया वह जयरामवाटी के
मातृ-प्रांगण में ।
माँ के लाड़ - दुलार की
स्निग्ध सरिता में
गोते लगाते
नाचते - गाते
पूजा का आनंद लिया उन लोगोंने
भरपूर ।
हठात् ही
दो तीन दिन पश्चात्
सभी आगत शिष्य
ज्वाराक्रांत हो उठे ।
व्याकुल - माँ
अनवरत,
चुपचाप,
द्वार से ही
स्नेह - सुकोमल दृष्टि डाल
समेटती रहती उन्हें
अपने अंक में,
और आर्तभाव से प्रार्थना करती -
"ओ माँ !
क्या होगा -
बच्चे सभी
एक एक कर
बीमार हो रहे हैं -
दयामयी तुम
कष्ट हरो ।"
क्लान्त भाव से वे कहती -
"अहा रे ! कैसा है ये गांव

कि
साबूदाने के लिए भी
दूध नहीं मिलता ।”
और,
बहुत तड़के ही
लोटा लेकर
बच्चों के लिए दूध मांगने
निकल पड़ती वह
द्वार - प्रतिद्वार ।
राजराजेश्वरी,
उस भिखारिनी की
भला वह कैसी अपूर्व छबि होगी ?
तथा,
विदाई के दिन
बैलगाड़ी के पीछे - पीछे
शांत मौन पैदल चलती हुई
माँ की मूर्ति,
गाड़ी के दूर निकल जाने के बाद,
खड़े खड़े
टकटकी लगाए
जाती हुई गाड़ी की छाया
तक को भी
एकटक निहारती
वह छवि -
मानो,
सब के मन - प्राणों में समाकर
निज से अधिक निज बनाने वाली
जन्म जन्मांतर की,
चिरकाल की,

अपनी ही माँ तो थी ।
एकदम अपनी !
बस अपनी ही !!
संन्यास दीक्षा के पश्चात्
तरुण कालीकृष्ण बन गया
स्वामी विरजानंद,
और आरंभ हुआ,
तपोमय - कर्ममय कठिन जीवन एक ।
जीवन में पुनः एक बार
देखा माँ ने
अपने इस लाड़ले को -
क्षीण-काया, श्रीहीन मुख;
सिहर उठी वे,
मर्म भेदिनी दृष्टि उनकी,
समझ लिया पल भर में ही
पुत्र की मनोदशा को -
यह तो शरीर की व्याधि नहीं,
कहीं - कोई साधन भजन का
दुष्परिणाम दीखता है ।
पूछा उन्होंने
"ध्यान कहाँ करते हो ?
हृदय में
या कि सहस्रार में ।"
संक्षिप्त उत्तर था -
"सहस्रार में,
वहाँ ध्यान ठीक होता है
आनंद भी खूब आता है ।"
"बेटा !
यह क्या ?

यह तो है चरम परिणति,
अंतिम अवस्था,
परमहंसों की विहार भूमिका ।
कुछ काल वहाँ अवस्थान कर
हदय में ध्यान करना
इष्ट का।"
जो स्वास्थ्य आध्यात्मिक उन्नति,
यम - नियम,
पथ - चिकित्सा से
संभव नहीं हो सका था,
वही मिला संन्यासी शिष्य को
माँ के इस
सामान्य विधान से ।
इतना ही नहीं ।
अपने इस संकोची शिष्य को
माँ ने ही -
गुरुपद पर आसीन करा
भेजा अमरीका,
और -
बता दिया सभी रहस्य
गुरुभाव का
बड़ी ही सहजता से,
मानों गुरु पद की गुरुता -
इस माँ के लिए
एकदम सहज सरल स्वधर्म थी ।
माँ की ममता से
प्रारंभ यह गाथा,
शारीरिक मानसिक आत्मिक
सभी क्षेत्रों को सराबोर करती

चलती रही -
जिससे पोषित होता रहा शिष्य का
स्थूल - सूक्ष्म और कारण शरीर,
उच्चतम आध्यात्मिक संपदा का
अधिकारी बन
'मनोबुद्धि अहंकार चित्तानि नाऽहं'...... आदि
अद्वैत सिद्धि की
घोषणा करने वाला,
चरम वैराग्य के क्षणों में -
सभी उपाधियों का,
निमित्त मात्र में,
अपवाद करने में सक्षम
यह शिष्य भी,
सम्पूर्ण हृदय से सहर्ष स्वीकार करता था,
कि,
कुछ नहीं है-
पर, 'इस कुछ नहीं है'
की विराटता में भी
मेरी माँ है निश्चित रुप से,
जो संसार में रहती है,
मात्र इसलिए कि
संतान को
संसार पार करा सके ।
ऐसी माँ को तो
'नेति - नेति' कहना
संभव ही नहीं था
वैराग्य संन्यासी के लिए भी ।
तभी तो -
इसी माँ को लिखा था उन्होंने-

"माँ ! मुझे इतना ही दो केवल
कि,
मैं तुम्हें कभी न भूलूँ ।
आज दिया अपना सब भार
तुम्हारे चरणों पर,
तुम माँ हो,
हाथ मेरा कभी भी न छोड़ना
मुझे गिरने न देना
यही मेरी प्रार्थना है ।
जिस पथ पर चलकर,
जिस भाव को सहेजकर
मैं
पहुँच सकूं तुम्हारे पास
शीघ्र ही,
विकसित हो सकूँ
तुम्हारे ही चरणों में,
वहीं - उसी दिशा में
ले चल
बरबस मुझे ।"
प्राचीन ऋषि की गंभीर प्रार्थना
आज की भी मुखरित है
एक संतान के इन
छोटे - छोटे शब्दों में ।
"अग्ने नय सुपथा राये
अस्मान् विश्वानि देव
वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जहुराणमेनो
भूमिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।"

अध्याय - १४

माँ सारदा,
लोकजननी के आँचल में,
सिकुड़न नहीं थी,
कहीं पर भी,
एक भी ।
मातृवंदना से अनुप्राणित,
भारतीय मानस,
वस्त्राभूषणों से अलंकृत
देवी माँ की भावभीनी
पूजा - आरती,
पत्र-पुष्प-धूप-नैवेद्य से
करती आ रही है -
अपने प्रथम स्पंदन से ही ।
पर,
अचानक ही एक दिन
पहचाना उसने
उसकी प्रशांत - स्थिर - कृपावेष्टित,
करुणा पूरित दृष्टि को -
पूजा कक्ष के बाहर भी
सर्वत्र ही,
और,
धूलि - धूसरित इस माँ की
वात्सल्य माधुरी -
घर - द्वार,
देहरी - आँगन,
खेत खलिहान,
बिखर गई ।
ममतामयी की दैनिक चर्या,
मानो,

सभी के लिए था
एक अनवद्य पाठ्य ग्रंथ ।
शास्त्रज्ञ स्वामी माधवानंद ने
पढ़ा था,
जीवन का सर्वश्रेष्ठ पाठ अपना
इसी माँ से,
'दीक्षा; अधिकारी को ही' -
ऐसा कुछ प्रसंग चलने पर
निर्भीक उत्तर रहता उनका,
"माँ
छाँट - छाँट कर कृपा करतीं,
तब भला
क्या मुझे -
इस अनधिकारी,
देहधारी को,
कृपा मिलती कभी ?"
मैं तो बस इतना ही जानता हूँ -
'मातस्त्वदनुसरणं'
यही है मेरा जीवन सर्वस्व ।
केवल स्नेह संपदा से
विश्व-हृदय को जीतने वाली
जयदेवी को
शब्दों से कुछ लेना देना नहीं था -
आगंतुक सुनते केवल इतना ही
"कैसे हो बेटा
आओ बैठो ।"
साकार आत्मीयता से अनुप्राणित
दो शब्द
साक्षात् परा - वाक् की शुभ्रता का

शीतल स्पर्श,
शास्त्र - श्रवण से कहीं अधिक शांतिप्रद
हुआ करता था -
और,
हृदय का शाप - ताप
संकोच भय
सभी गलकर
समर्पण की मौन भाषा में मुखर हो उठता था
भक्त हृदय के क़पाट खुलते -
वह अपना सब उँडेल देता ।
सत्यरूपिणी माँ की ऊर्जिता वाणी -
इसी परावाक् का एक स्फुलिंग
तेजोमय -
घनीभूत ऊर्जा -
और उसका प्रकाश -
स्तब्ध करता था सुनने वाले को ।
सुना था एक संन्यासी शिष्य ने -
जब उसने वासना मुक्ति की प्रार्थना की,
माँ के श्री चरणों में -
जब तक "मैं" है,
वासना तो रहेगी ही,
पर, ठाकुर रक्षक है,
जो शरणागत हैं,
सब कुछ छोड़ा है जिन्होंने,
जो बनना चाहता है अच्छा,
उसकी रक्षा -
यदि वे न करें
तो यह तो
उन्हीं का महापाप है न ?"

भवानी ने

इस कठोर सत्य के आवरण में,

जलाया एक प्रदीप,

अनन्यशरणागति का -

दीपशिखा बनी थी -

शरण्य का अभय माहात्म्य,

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।"

परमहंस रामकृष्ण की आनंद-साधना,

कामारपुकुर की पर्णकुटी से

काशीपुर की उद्यान वाटिका तक

चलती रही अनवरत ।

इसी की फलश्रुति के रूप में -

आई - माँ सारदा -

जिनके निर्बंध मातृ रस ने

अवगाहित किया

ठाकुर की आनंदलीला को

जहाँ,

जीवन और देना

पर्याय ही नहीं

अभिन्न थे,

एक थे ।

मदमत्त पद्यविनोद,

उद्बोधन मातृगृहके बाहर,

निरीह शिशु की भाँति,

माँ की पुकार करता

प्रत्येक रात्रि -

और,

संन्यासी पुत्रों का कठिन आवर्जन भी,

उन्हें रोक न पाता -
उस मतवाले का दुलार करने से ।
ज्ञानी ध्यानी,
जपी - तपी, का अधिकार
उस पागल का भी,
अपना निजी था मानो ।
माँ की पुकार मात्र से ही
स्त्रोत एक अबाधित
निर्झरित होता उनके अंतःकरण से -
क्यों न हो ?
यहाँ माँ का देवीत्व नहीं,
देवी का मातृत्व था -
मां और संतान की चिरमिलन भूमि
एक शस्यश्यामल ।
वे कहा करती -
"तुम लोग क्या सोचते हो
ठाकुर यदि यह शरीर
न भी रखें -
तो भी,
भार जिनका लिया है मैंने,
एक का भी बाकी रहते
क्या छुट्टी होगी मेरी ?"
मानो;
संतान के लिए
स्वयं की मुक्ति का
कुछ मूल्य ही नहीं था
और,
पुनः पुनः अवतीर्ण होने की
"पुनरपि जननि जठरे शयनं -"

का क्लेश भी
अति सामान्य था -
एकदम तुच्छ ।
अकुंठित सेवा,
स्नेहमाधुरी सम्पन्न परिचर्या,
यही उनका धर्म था ।
बागबाजार से आनेवाला भक्त,
ग्रीष्म के प्रचंड सूर्याताप से दग्ध
शांतिमयी के चरणों में
प्रणाम करते ही देखता है -
एक स्नेहमूर्ति -
पंखा लेकर शीतल व्यजन करती
और एक दिन,
पाठशाला की छुट्टी के बाद
मध्याह्न की कड़ी धूप में
आने वाली महिला से
कहा था माँ ने
"अरे !
भोजन के बाद ही
आ रही हो दौड़कर
चलो अब -
थोड़ी देर मेरे साथ सो जाओं ।"
फिर साग्रह कहा उन्होंने
"कोई संकोच नहीं है बेटी,
लेट जाओ-
मैं जो कह रही हूँ ।"
सामरस्य से आकंठ आप्यायित,
जीवन एक
भेद की कल्पना ही,

सांघातिक अमंगल था वहाँ -
एक दिन नलिनी ने कहा -
"बुआ, छत्तीस लोगों का
जूठा उठाती हो,
न जाने
कौन, किस जाति का है ?"
जूठे अन्न कणों को एकत्रित कर
भोलेपन से माँ ने कहा -
"कहाँ छत्तीस,
यह तो एक हो गया ।"
अद्वैत का अधिष्ठान,
द्वैत का सुंदर मनोहर नृत्य -
यही था जीवंत सामरस्य सिद्धान्त ।
मृदुता - ममता,
लज्जा - सरलता,
पवित्रता - सौम्यता की प्रतिमूर्ति के
करतल था,
हस्तामलकवत्,
उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान -
"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि का
पद्मपत्रमिवांभसा ।"

अध्याय - १५

माँ -

नैपथ्य वासिनी

अवगुंठन के भीतर

निर्माण होता रहा एक जीवन

आलोक सामान्य ।

विकीर्ण होती रहीं

रश्मियाँ आलोकमयी,

उन्मोचित होता रहा

गहन - आवरण

मानव - दृष्टि का ।

दक्षिणेश्वर निवास काल में

'नौबत' के चतुर्दिक् पड़ी चिक,

उसमें एक छोटा सा स्थान

फटा -

बना था झरोखा,

दो, नीरव सर्वग्राही नेत्रों के लिए,

और मिली नेपथ्य में ही

दिव्य - दृष्टि एक माँ को

संतान के हृदय स्पर्श के लिए ।

यहींसे

एकाग्र तमन्मय से

देखा करती माँ

उल्लास नृत्य,

भाव रास,

शिशु भगवान् रामकृष्ण का -

और,

अनाहत एक स्वर गूँजा करता

उनके अस्तित्व में -

"नयन पथ गामी भवतु में !
नयन पथगामी भवतु में !!"

सत्य ही,
ठाकुर समा गए थे
दो अपलक नेत्रद्वार से
माँ के हृदय मंदिर में ।

तभी तो
"शिवबुद्धि से जीव सेवा"
वेदवाक्य का
भाष्य बन गया
उसका संपूर्ण जीवन;

जिसमें -
"परम प्रेम रूपा - अमृत स्वरूपा,
विभक्ति - विरहति भक्ति
विकसित हुई
मानवी - देवी-गुरु का समाहार कर ।

भक्त काली कृष्ण;
ठाकुर से मिलकर
जा रहे हैं वापस -
चौखट पर नौबत की,
टेका माथा;
किया प्रणाम माँ को
सिर उठाते ही देखा -
चवन्नी - गाड़ी भाड़ा के लिए -
रखी माँ ने चुपचाप -
याद आ गया,
कहा था ठाकुर ने उसे
"जा रहे हो,
किराया तो है न ?"

रोमांच - पुलक से
गला रुँधा
झुक गया शीश अनायास ही
ममतामयी के चरणों पर ।
विदेशिनी निवेदिता ने
पढ़ा था;
इन्हीं आँखों की
मौन भाषा को,
डूब ही गई थी वह
आपाद - मस्तक
प्रेम तरंगित, प्रशांत सागर की
पारदर्शी गहराइयों में ।
सोचा था और
जाना था उसने
"अवतार वरिष्ठाय"
परमहंस रामकृष्ण की परिणीता में
ऊर्ध्वतम शक्ति का
अकुंठ प्रकाश;
और देखा था,
आपात सामान्या
इस हिन्दू रमणी में,
सम्पूर्ण विश्व की महानतम नारी को
तभी तो,
उच्छ्वसित हो लिखा उसने -
"माँ ! प्यारी माँ !!
कल, गिरजाघर के प्रार्थना कक्ष में
प्रातःकालीन नीरव
अध्यात्म चर्चित
परिवेश में,

जब, माँ मरियम की प्रसादपूर्ण
भाव-छवि उत्कीर्ण थी,
सब अंतःकरण में
तब -
जानती हो -
कौन था वहाँ
मेरी दृष्टि में -
तुम,
हाँ तुम्हीं थी,
वही कोमल करुण मुख,
स्नेह सराबोर गंभीर आँखें,
श्वेत परिधान,
तुम्हारा कंगन,
सब,
अविकल वैसा ही,
तुम्हारी ही छवि
तमसावरण को भेदकर
मेरे अंतःकरण में
थी प्रकाशित,
ज्योतिर्मय आशीर्वाद तुम्हारा
बरस रहा था,
कण - कण स्पंदनशील था,
प्रार्थना कक्ष का ।
उच्छ्वास विरहित प्रेम तुम्हारा
शांतिमूर्ति - कल्याणी तुम
करो विस्तारित
शुभ्रांचल
आर्तजनों के लिए
पद्मपत्रों पर बिखरे

शिशिर - कणों की तरह
बिखर जाय वरदान
एक अनुपम वसुधा पर ।"
शांतिमयी इस माँ को,
वही सूरज प्रिय था,
जो, बिना पुकारे ही
सुदूर धरती तल - स्थित
जलराशि को देता है
स्पर्श अशेष -
उठाता है उसे,
बनाता है, जलधर
और फिर वही,
तृप्ति दाता जलद
बुझाता है प्यास
तृषित धरती की ।
ऐसा ही एक
गहन नीरव संबंध था
माँ का -
सबके साथ -
सब के सो जाने पर,
चुपचाप
जूठा बटोर -
रास्ता साफ करना
उसका अपना काम था प्रति रात का -
पूछने पर कहा करती वे
अत्यंत सहजता से
"ना ! ना !! कुछ नहीं
बस यों ही -
बच्चों के पैरों में

जूठा ने लगे

इसीलिए ।"

जप - ध्यान - प्रार्थना - साधना

सभी आंतरिक था नितांत गोपन ।

जयरामबाटी में,

धान - चावल के बोरों का अंबार,

वहीं -

साधना निरता की अपूर्व शोभा

दीख पड़ती है ।

एक बोरा बिछाकर बैठी माँ

झूलते चरण द्वय

गोदी पर पड़े दो शिथिल हाथ -

सुदूर अपलक निहारते नेत्र,

माला पतली सी रुद्राक्ष की,

मानो,

"प्रेम मगन भए

शिथिलसरीरा ।"

कहीं किसी प्रकार का

आयास - प्रयास नहीं,

जप - ध्यान की कोई जटिलता नहीं

और इसी सादगी में,

आत्मा का ऐश्वर्य,

सहज - अकृत्रिम

अंकित था ।

मनोज्ञता - शालीनता - शोभनता ने

मंडन किया माँ का

दिव्याभूषणों से,

जिसका अतिक्रमण नहीं हुआ

आजीवन ।

राघू
पायजेब पहन
उतरती थी नीचे
पैर पटक - पटक कर ।
वितृष्णा से कहा माँ ने
"राधी तुझे लाज भी नहीं आती
सभी संन्यासी बच्चे रहते हैं नीचे
उन्हें कैसा लगेगा -
बोल तो ?
उतार इस पाजेब को ।"
इसी निष्ठा को चरितार्थ किया
स्वयं माँ ने
अक्षरशः
अपने ही जीवन में -
एक बार -
उद्बोधन की मातृबाड़ी में,
अस्वस्थ माँ का आँचल
सरक गया सिर पर से,
संन्यासी संतानों का अनवरत
आना - जाना हो रहा था,
सबके चले जाने पर
कहा उन्होंने -
वेदना - मिश्रित ताड़ना के स्वर में
"तुम लोगों को
क्या कुछ विवेक नहीं ?
क्यों नहीं सिर पर आँचल दिया
मैं मर तो नहीं गई थी
कि खुला मुंह रखा ?"
व्रत था उनका,

सबकी मर्यादा की रक्षा -
दक्षिणेश्वर के पथ पर उन्हें
एकाकी छोड़ जाने वाले
सहयात्रियों वाली -
चिर परिचित घटना का
बार बार कहना उन्हें अत्यंत
अप्रिय था -
"सत्य को भी बार - बार कहने से
उनका अपमान होगा"
यही है माँ सारदा -
एक निश्चिंत नीड
संतानों का ।

अध्याय - १६

माँ,
पुजारिनी -
परापूजा थी साकार
इस असाधारण ग्रामीणा में;
और
इस पूजा - विग्रह में
समाया था विराट् पुरुष,
अपनी परिपूर्णता में -
यहाँ,
चराचर सभी वरणीय थे
पूज्य
महत् ।
झाड़ू का तिरस्कार भी असह्य था उन्हें -
ज्योंही,
पटकता कोई निर्ममता से झाड़ू,
माँ त्वरा से जाकर
लगातीं माथे से उसे
भरपूर विनय के साथ -
"कहीं ! ऐसे भी
कोई किसी को पटकता है क्या ?
सभी तो उसी विराट् की
अभिव्यक्ति है परिपूर्ण ।"
"पूर्णमदः, पूर्णमिदं,
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते -"
यही तो महामंत्र था
उनकी पूजा का ।
माँ की पूजा निष्ठा थी,

एक द्वयवर्णी रचना
कर्म और धर्म की,
अतुलनीय मातृभाव संपन्न
इस यशोदा ने पालन किया
न जाने कितनी
कृष्ण - संतानों का ।
ऐसा लगता है कि
गोपाल - कृष्ण ही इष्ट बने थे
पूजापरायण इस मानस में -
तभी तो,
गठिये से पीड़ित काया ले,
चल पड़ती है दूध लाने,
तड़के ही -
गिरीश घोष को सुबह उठते ही,
चाय पीने की आदत जो है ।
इतना ही नहीं -
पुत्र के बिस्तर की मैली चादर ले
चली जातीं तालाब,
और,
बिस्तर पर प्रतिदिन ही मिला करता उसे
सफेद चादर ।
गिरीश घोष ने -
इस आंतरिक हार्दिकता में पाया
एक तपस्विनी की,
सनातनी - संतापहारिणी की,
विराटता को,
जिसके अंकुठ पूजा भाव से
मुक्ति मिलती रही
न जाने कितने ही

रागी - विरागी - वीतरागी
साधकों को ।
सभी का एक सामान्य अनुभव था
"माँ !
जब मैं तम्हारे समीप होता हूँ
तब, न जाने
कब - कैसे - क्यों,
बन जाता हूँ शिशु एक
नितांत अबोध । "
माँ को मालूम था -
सत्य एक -
जो समाया था
अस्तित्व की अतल गहराइयों तक
कि -
सभी में उनके ही ठाकुर का
चिर - निवास है
अतः कहीं भी,
कुछ भी, तुच्छ नहीं,
उपेक्षणीय नहीं ।
कहा था उन्होंने स्वयं -
"देखो न !
ठाकुर बार - बार आते हैं -
एक ही चाँद
रोज - रोज
सर्वत्र ।"
सेवक ने पूछा -
"ठाकुर ही तो नहीं,
आप भी तो उठाती है कष्ट
गुरुतर,

ठाकुर और आप
एक ही तो है ।"
माँ ने निःसंकोच - संभ्रम से कहा -
"छिः ऐसी बात नहीं कहते,
तुम यंत्री मैं यंत्र
तुम गृहणी मैं गृह ।
सब कुछ ठाकुर ही है
उनसे भिन्न कहीं कछ भी नहीं ।।"
मैं के जीवन में,
कण - कण,
पल - पल,
अवतरित था
उन्हीं का प्रकाश,
दिव्य - महान् -
और यही समाया था
माँ की साधना में -
उनका जीवन बना था नैवेद्य,
कैवल नैवेद्य -
जिसमें -
"पूजा ओढ़न, पूजा बिछावन
पूजा का ही सिरहाना था ।"
जयरामबाटी में,
पगली मामी के लिए लगा रही है खाना -
ज्यों ही पानी आया,
कि हठात्
कहीं से एक बिल्ली ने आकर
मुँह लगा दिया उसमें ।
उत्तेजित चिल्ला उठी वह -
"ठहर !

आज तुझे मा़र ही डालूँगी जान से ।"

गला भर आया माँ का -

"अहा ! चैत का महीना है,

प्यास लगी होगी

पीने दो पानी उसे ।"

तेज स्वर में व्यंग्य किया मामी ने -

"रहने भी दो !

मैं जानती हूँ -

मनुष्यों पर कितनी दया है तुम्हारी

और अब,

दिखाने चली हो दया

बिल्ली पर !"

गंभीर भाव से उत्तर दिया माँ ने -

अनंत की पुजारिनी का वह स्वर

दिव्य था -

"जिस पर मेरी दया नहीं

वह अभागा है नितांत;

पर, सच कहूँ,

ऐसा तो कोई भी नहीं -

जड़ - चेतन,

निष्प्राण - प्राण

जहाँ दया - निष्ठा नहीं उमड़ती मेरी ।"

रसोई बन जाने पर -

सभी देवी - देवताओं के पास जा

चुपके से वे कहतीं -

स्नेह - प्लुत आह्वान के स्वर में,

"चलो सब,

खाना खा लो

भोजन तैयार है ।"

एक दिन सलज्ज कहा था उन्होंने
"मेरा परिवार बहुत बड़ा जो है ।"
विलक्षण थी उनकी हार्दिकता
ऊर्ध्वमुखी दीपशिखा की तरह
ज्वलंत भक्ति साकार ।
पूछा था एक ब्रह्मचारी संतान ने -
"माँ ! आपको तपस्या की
भला क्या आवश्यकता ?"
परम प्रेम रूपा, अमृतस्वरूपा
प्रेमाभक्ति ने कहा -
"तपस्या आवश्यक है,
यह जो सब करती हूँ
वह है सबके लिए,
सबकी सेवा -
यही तो सर्वोपरि है ।"
पुण्यतीर्थ जगन्नाथपुरी में -
माँ प्रतिदिन जाती पैदल,
श्री विग्रह के दर्शन को,
गोविन्द पंडा का आग्रह था -
पालकी में जाने का ।
विनम्रता की साक्षात् प्रतिमा माँ ने कहा -
"नहीं गोविंद !
तुम दिखाना पथ
चलना आगे-आगे,
और मैं -
दीन - हीन, - कंगालिन की भाँति,
चलूँगी,
पीछें - पीछे
करूँगी दर्शन जगन्नाथ स्वामी का ।"

मंदिर में देखा उन्होंने दृश्य एक -
अपूर्व,
भावावेश की उच्चतम भूमिका की वह
"पुरुषसिंह जगन्नाथ
विराजित रत्नवेदी पर,
परिचारिका स्वयं वे,
कर रही है चरण सेवा ।"
माँ के मायके में -
जगद्धात्री - पूजन - पर्व
मनाया जाता था
उमंग - उल्लास से ।
प्रतिमा विसर्जन के समय
श्यामासुंदरी सदा ही कहती,
माँ जगद्धात्री के कानो में
"माँ जगाई -
आना फिर
अगले वर्ष
प्रतीक्षा करूँगी मैं ।"
एक बार माँ ने कह ही तो दिया -
"बार - बार पूजा क्यों ?
एक बार ही तो पर्याप्त है ।"
रात में देखा माँ ने -
दिव्य स्वप्न एक
"जया - विजया के साथ -
मां जगद्धात्री आई पास
अति पास
और पूछने लगीं
'तो फिर हम जाएँ ?'
पूछा माँ ने

- "कौन हो तुम ?"
उत्तर पाकर उत्कंठित हो कहा उन्होंने
"नहीं - नहीं
कहाँ जावोगी,
यहीं रहो -
यहीं मेरे पास ।"
माँ का संसार -
भक्त और भगवान् का निजी संसार था
नितांत व्यक्तिगत - अभिन्न
वहाँ -
सभी स्वजन थे
आत्मीय ।
रामकृष्णगत प्राणा इस आराधिका में -
अहं का विलयन था अशेष
लेशमात्र भी अपना - आपा
था नहीं;
सभी निछावर था वहीं,
उन्हीं पादपद्मों में ।
"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।"
यही था जीवन संगीत,
गूँज थी जिसकी
दिगंत व्यापी ।

अध्याय - १७

माँ -

संघजननी,

गाथा यह अनुपम,

जीवनवृत्त एक, विकसित परिपूर्ण ।

मानव जीवन -

अनंत कोटि ब्रह्माण्ड का

कण एक लघु,

अति लघु -

पर,

नाप लेता है

धरती - आकाश - अंतरिक्ष की सीमाको

और बन जाता है स्वयं

सृष्टि एक परिपूर्ण

विभुता का अतुलनीय वैभव

सौंदर्य एक अपरूप ।

"अणोरणीयान् महतो महीयान्-"

यही है जयरामबाटी की नन्हीं बालिका

विश्वव्यापी रामकृष्ण संघ की जननी

माँ - ठाकुरानी ।

रामकृष्ण परमहंस ने किया

बीजारोपण एक गैरिक संसार का ।

कुछ गिने चुने भिक्षुकों ने .

ताना वितान -

जीवन्त शिव की अखंड सेवा का ।

कहा था ठाकुर ने माँ को

"दे जाऊँगा तुम्हें

उज्ज्वल पुत्र रत्न ।"

हुआ कुछ ऐसा ही
कि -
छा गए वे अल्पकाल में
दूर दूर तक -
चमक उनकी आकर्षित करने लगी
देश विदेश को ।
जड़ें इस अश्वत्थ की
जमी थीं गहराई में
इस कल्याणी की गोद में ।
गूँजने लगी मंगल ध्वनि
आरती की सर्वत्र
"जननी सारदा देवी, रामकृष्णं जगद्‌गुरुम् ।
पादपद्‌मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।।"
विराट् आध्यात्मिक चेतना -
स्वामी विवेकानंद की चूमती थी चरण
अपरूप - आलोक मंडित इस माँ के,
लिखा था उन्होंने -
"मैं दास हूँ उनका
संबंध है यह अनादि,
जन्मजन्मानतरों का
आशीर्वाद उनका -
यही है मेरा सर्वमंगल ।"
द्विधाग्रस्त मन उनका -
अनिर्णीत था विदेश जाना,
सहसा ही आया आदेश माँ का -
कहा गोलाप माँ ने आकर -
"कहलाया है माँ ने -
सदा ही ठाकुर हैं साथ तुम्हारे
विश्व कल्याण का महत् कार्य

करना है तुम्हें ।"

चल पड़े विवेकानंद -

निःसंबल, अर्थहीन,

अनजान अपरिचित गंतव्य की ओर

सहारा था केवल

इस वत्सली का आशीष -

उनका ही संकल्प पाथेय था

इस एकाकी संन्यासी का ।

पहचाना था विवेकानंद ने

संघ जननी के स्वरूप को,

और -

सभी संन्यासी भाइयों को दिखाया था

इस माँ की अकृत्रिम स्नेह गरिमा को ।

प्रज्ञा असाधारण थी माँ की

स्नेह - शक्ति भी थी भरपूर;

और ये ही थे पोषक तत्त्व

संपूर्ण रामकृष्ण संघ के ।

कहा था विवेकनंद ने -

अपने विदेश अभिभाषणों में -

"चेतना के उत्थान की कल्पना,

कुछ तरुण अनुभवहीन संन्यासियों की

भला कौन है -

सुनने - समझने वाला -

हृदय के इस हाहाकार को,

अहर्निश उठनेवाली इस अग्नि वन्या को ।

उस दिन तो केवल एक ही था ऐसा -

एक महिला,

गुरुदेव की सहधर्मिणी

जिसकी आंतरिक सहानुभूति ने डाले

अमृत - कण
हृदय - दाह पर
और संघ की परिकल्पना
साकार होती गई शनैः शनैः ।"
प्रत्येक गंभीर प्रश्नों पर
उन्हें सहज सरल परामर्श मिलता था -
द्विधाहीन - तत्काल,
समझा देती थी माँ
सब कुछ सीधे सादे शव्दों में ।
पूजा के समय
पशु बलि की समस्या खड़ी थी,
कहा माँ ने -
"मठ में दुर्गापूजा होगी अवश्य
शक्ति की अराधना आवश्यक है
कार्य सिद्धि के लिए ।
पर
अभयदान के व्रती
संन्यासी हो तुम लोग
बलि भला कैसे दोगे ?"
सेवा कार्य की व्यापकता बढ़ी निरंतर
और -
अर्थाभाव से आक्रांत विवेकानंद ने
फैसला किया -
बेलूर मठ बेचने का ।
ज्वलंत अग्निपिंड वह,
समझाना अत्यंत कठिन था -
कहा माँ ने -
"मठ स्थापना का संकल्प लिया है
मेरे नाम से -

फिर भला कहो तो,
किस अधिकार से बेचोगे मठ ?
क्या एक ही काम में
बेलूर मठ मात्र होगा निशेष ?
क्या ठाकुर का काम
चलेगा नहीं सुदूर भविष्य तक ?"
जागा विवेक
हो गए चुप विवेकानंद
और मठ का सेवा कार्य चलता रहा
अनवरत ।
स्वामी शिवानंद को लिखा उन्होंने
"श्री रामकृष्ण परमहंस भले ही जायें
पर,
माँ ठाकुरानी के जाने से
बस सर्वनाश ही समझो दादा !
हमारी माँ शक्ति का विशाल आधार है
वह बनी रहे
बस सभी ठीक होगा ।"
चिर निर्भीक विवेकानंद
उस महिमामयी के पास
बन जाता था शिशु नितांत -
बार - बार करता प्रक्षालन स्वयं का
गंगाजल से -
हम लोगों का मन -
बस एक सामान्य मन ही तो है,
जाना है माँ के पास
अशुचिता का डर है
वह जो है हमारा तीर्थ
पवित्रतम् ।"

कहा करते स्वामी ब्रह्मानंद
"ब्रह्मज्ञान की चाबी है माँ के पास
दयामयी की कृपा से,
कपाट खुल जाने से होगा प्रवेश
आत्मदेश में ।"
शक्ति स्वरूपा ब्रह्ममयी को पुष्पांजली -
यही थी उनकी चरम तृप्ति ।
भावावेग में आत्म विस्तृत
दुर्गापूजा के अवसर पर
गाया उन्होंने -
"शंकरी चरणों में डूब मन
कर ले दूर त्रिताप,
विश्व प्रपंच करे छिन्न
श्यामा नाम जप रे
श्यामा नाम जप ।"
एक बार बेलूर मठ में आगमन
शंकरी का -
अभ्यर्चना की आकंठ उत्कंठ है
सन्यासी संतानों को -
प्रवेश द्वार से मंदिर तक
कण - कण निछावर है
स्वागत में ।
माँ आई -
श्वेतारुण शुभ्र परिधान
किया प्रणाम साष्टांग सभी ने -
पर,
राखाल आज उन्मत्त हैं,
मन न जाने कहाँ -
देह से दूर

कर्म से अतीत
बुद्धि से परे, उड़ चला
दुर्निवार भावावेग में
और
गीत नृत्य की मंगल ध्वनि में
लग गई भाव - समाधि गहरी
ठहर गया काल
भाव उपशम था दुष्कर ।
सभी प्रयास विफल थे
कानों में मंत्र ध्वनि मानो
जा ही नहीं रहे थे ।
आई माँ -
कहा मार्दव से
"ओ रखाल प्रसाद लाई हूँ
खा ले ।"
स्पर्श यह स्वर्गिक
खोली आँखे राखाल ने -
कहा -
"हाँ ! माँ खाता हूँ ।"
स्वामी अरूपानंद
कर रहे हैं याचना
" आशीर्वाद करो !
अंतःकरण शुद्ध हो
मन में अनुराग हो ।"
"कहूँगी ठाकुर से"
उत्तर था माँ का
"क्या तुम और ठाकुर अलग हो ?"
माँ ने दिया आशीष
अभूतपूर्व -

"वेटा ! यदि मेरे आशीर्वाद
से हो तुम्हें पूर्णज्ञान,
तो,
अस्थि पर्यंत
रोम - रोम से मेरा आशीष है ।"
इसी माँ के लिए गाया सबने
गीत एक
"खेलो संग वावा के
पर,
गोद लेगी माँ ही
आओ पुकारें-
सब मिल -
जय माँ ! जय माँ !!
माँ हमारी -
हम बच्चे माँ के
जय माँ ! जय माँ !! "

अध्याय - १८

माँ -
सारदामणि -
एक साधारण ग्राम्य रमणी ।
हाँ ! वही तो है
परिणीता गृहणी
परमहंस रामकृष्ण देव की !
हाँ !! वही तो है,
रामकृष्ण विवेकानंद रूपी
महती विकास परंपरा की
संघ जननी ।
हाँ !! वही तो है,
विश्व - जननी
ब्रह्माण्ड - भांडोदरी
सबकी माँ -
अपनी - निजी ।
दक्षिणेश्वर की दिव्य पट भूमि में
माँ भवतारिणी के
प्रेमारुण - चरणों की
नूपुर - ध्वनि का
दीर्घ - प्लुत अनुरणन
यही है -
रूपायित मातृसंगीत
माँ सारदा का,
जहाँ,
व्यक्ति - सत्य ने किया था
समर्पण स्वयं को,
जीवन सत्य की विराटता में,

और,
वही समर्पण गीत
मुखरित था
पदे - पदे
माँ के क्रिया कलाप में ।
चिर विरागिनी,
नहबत - वासिनी
प्रेममयी की
अहैतुकी कृपा,
मानो बरसा करती थी
प्रत्येक पर ।
निरक्षर बालक एक
'लाटू'
मातृ महिमा से आत्म विभोर,
बन गया -
स्वामी अद्भुतानंद ।
लिखा उन्होंने
"भला मैंने क्या सेवा की,
उन्होंने ही तो
अपने हाथों
बहुत दुलार से
किया निर्माण मेरा ।"
सांत्वना - सहानुभूति
तृप्ति - आनंद की
प्रगाढ़ भाव धारा में
उसके प्राण जुड़ा जाते थे
वहीं -
उसी भगवती के पास जाकर
काशीपुर उद्यान वाटिका में -

ठाकुर की कठिन व्याधि के समय
घनघोर निराशा के पलों में -
माँ की सांत्वना भरी वाणी उसे सुनती,
जब योगीन दादा कहते -
"कहा है मुझे माँ ने
हताश मत होने देना उसे
अभी तो ठीक है ठाकुर
घाव का मुँह भी
अभी बाहर है ।"
कैसा साहस !
कैसी गंभीर गरिमा !!
कैसा वैराग्य !!!
जो,
आसन्न मृत्यु की काली छाया में भी
देख लेता है,
जीवन के चमकते पलों को ।
लाडला शरत् -
माँ का 'द्वारी'
द्वारी ही नहीं
'सहस्त्रफना वासुकी'
धारित्री का भारवाहक -
विराट चेतना संपन्न
यह स्वामी - सारदानंद महाराज
स्वयं को अति लघु पाते
इस माँ की महिमा के समक्ष ।
एक दिन,
एक भक्त के प्रणाम निवेदन पर
आत्मविगलित दैन्य से कहा उन्होंने -
"यह क्या

मुझे इतना बड़ा प्रणाम !!
जिन चरणों में समर्पित तुम,
मिली कृपा जिसकी तुम्हें,
मैं तो
उसी पर दृष्टि टिकाए बैठा हूँ ।
इस इच्छामयी के भावमात्र से
सभी संभव है ।
और,
उसी के केन्द्र स्थानीय शक्ति का
एक स्पर्श ही पर्याप्त है
मेरे जीवन की
संपूर्ण प्रेरणा के लिए ।"
ऐसा लगता है कि
स्वामी सारदानंद जी का,
जीवन मंत्र था,
केवल यही कि,
"तुम यंत्री मां
मैं यंत्र तुम्हारा ।"
रामकृष्ण संघाध्यक्ष
स्वामी ब्रह्मानंद के जीवन संगीत का
ध्रुव - पद था
"माँ की भरपूर सहमति
प्रत्येक श्वास में ।"
निर्माण किया था उन्होंने -
अपने अन्तर्बाह्य जीवन को,
माँ के साँचे में -
और, दिखाई पड़ती एक छवि,
ब्रह्मानंद विग्रह के आरपार -
'अभिन्न निमित्तोपदान कारणरूपिणी

माँ !
त्यागी संतानें की पालयित्री - अभिभाविका के
शक्तिशाली व्यक्तित्व का प्रकाश
अभिभूत करता था सबको,
यहाँ तक कि,
स्वयं ठाकुर भी
संभ्रमित - चुप हो जाते थे ।
ठाकुर की व्यवस्था में,
रोटियों की संख्यां निर्धारित थी
सब त्यागियों के लिए,
पर,
रथारूढ़ा विजयिनी की तरह
घोषणा कर दी माँ ने
"उनका भविष्य
मेरे ऊपर है ।"
और,
इन दो शब्दों में
अनायास ही दायित्व ले लिया माँ ने
भावी रामकृष्ण संघ का ।
रो-रोकर पुकारा था माँ ने -
"ठाकुर ! तुम आए
कुछ अंतरंगों के साथ
कर गए लीला,
क्या,
तुम इतने ही हो ?
नहीं होगा विकीर्ण यह दिव्य प्रकाश
दिग्दिगंत तक ?"
संघ जननी ने बनाया
एक प्रकाश - पथ,

त्याग का नहीं,
शत शत बंधनों की स्वेच्छाया स्वीकृत से
सेवा का !
समर्पण का !!
उनका संपूर्ण जीवन बना
भाष्य इसी मानव - शास्त्र का ।
लिखा था स्वामी प्रेमानंद ने
"हमारा धर्म - कर्म,
व्रत - अनुष्ठान,
जप - तप,
याग - यज्ञ
जो भी है -
वह है केवल
आदेश पालन
माँ का ।"
संघ जननी की
दृढ़ - सत्य - निष्ठा का,
परिचय मिला,
भारतीय - स्वतंत्रता संग्राम
के समय ।
आदेश आया एक
सरकार का,
"पुलिस के संदेह भाजनों को -
किया जाय बहिष्कृत
बेलूर मठ से ।"
माँ ने कहा -
"यह क्या !
सत्य स्वरूप ठाकुर का आश्रय ले,
सर्वत्यागी हो,

निकल पड़े जो सेवाव्रती,
बृहदारण्य में -
उन्हें,
उन्हीं के स्थान से
कैसे निकाला जा सकता है ?
और,
मठ यह,
ठाकुर स्वयं ही तो हैं -
उन्हीं की संतान,
यहाँ नहीं रहेगी
तो भला जायगी कहाँ ?
भले ही उन्हें रहना पड़े
पेड़ - तले
पर,
सत्य भ्रष्ट तो वे
नहीं ही होंगे ।"
श्री रामकृष्ण - भावानुरागी
त्यागी - गृही,
सबकी जननी यह
माँ सारदा ।
स्वामी अभेदानंद करते हैं
ध्यान
इसी माँ का -
"ध्यायेद् हृत्कमल मध्ये
हेम वर्णा सुखासनाम् ।
आलुलायित - कैशार्ध
वक्षस्थलामि मंडिताम् ।।
श्वेतवस्त्रावृत्तार्धंगा
हेमालंकार भूषिताम् ।

स्व क्रोड़ान्यस्त हस्तांच

द्विभुजा स्थिरलोचनाम् ।।

प्रसन्न वदनां जीवन दुख

गलित चेतसाम् ।

शुभ्र ज्योतिर्मयी देवी

वरदां सर्वमंगलाम् ।।

रामकृष्णगत प्राणा

तन्नाम्, श्रवण प्रियाम् ।।

तद्भावरंजिताकारां

विश्वमातृ स्वरूपिणीम् ।।"

स्नेहमयीं शिवां शांता

भक्ति मुक्ति प्रदायिनीम् ।

सर्व जीवन त्राण कर्त्री

सारदां ज्ञानदायिनीम् ।।"

हेमवर्णा - सुखासना - प्रसन्नवदनां

देवी - मानवी

स्नेहमयी उसी माँ को

प्रणाम ।

शत-शत बार -

प्रणाम !!